चतुःश्लोकी

।।श्रीकृष्णाय नमः।।
।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

ग्रन्थ–परिचय

चतुःश्लोकीका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि। सं। १५८० या ८२ में कभी किया था ऐसी किंवदन्ती मिलती है।[१] यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयकेलिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अनुसार राना व्यास और भगवानदास साञ्चोराने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष रूप पुरुषार्थोका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है। यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रूचि, सङ्ग या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप तत्तन्मार्गीय जीवोंमें पुरुषार्थ–सम्बन्धी धारणायें भिन्न–भिन्न पायी जाती हैं। पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष–सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है।

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पड जाता है तो विफलता, निराशा, कुण्ठा, क्षोभ एवम् आत्मघाती भावनाओंकी ओर ही वह अग्रसर हो जाता है। इस जगतमें सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके सङ्ग भी मिल जाते हैं। इन आकस्मिक सङ्गोके कारण कभी–कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वाभाविक अहन्ता–ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है।

गोधराके राना व्यासको भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी सङ्गति मिली थी। उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासको लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोकी यात्रा करते रहनेमें ही होना चाहिये। अतः अपने माता–पिताको कुछ कहे–सुने बिना एक रात ये घरसे निकल भागे। इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया। प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता–पिताके देहान्तके बाद इन्हें पाञ्च दस हजार रुपये और उत्तराधिकारमें मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया कुल मिला कर ये अपने–आपको पहुंचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये। शनैः–शनैः अपने गांवके लोग तो इन्हें गंवारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टक्कर लेनेकी लालसा इनके दिलमें जगी और एक दिन ये काशी पहुंच गये। वहां जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा ही हुआ, जिन–जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होना पडा !

---

[१] श्रीनागरदास बाम्भनिया लिखित लेख, वैष्णववाणी अङ्ग ४ बर्ष १९७९

इससे ये अत्यधिक लज्जत होकर गङ्गामें कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे। यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हें सङ्कोचका अनुभव हो रहा था सो गङ्गातटपर बैठे रात्रीके एकान्त और अन्धकार की प्रतिक्षा कर रहे थे तभी श्रीमहाप्रभुका भी वहां पधारना हुआ। संयोगवश किसी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गङ्गामें डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है। इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहङ्कारवश लड-झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है। दीनभावसे किन्तु सन्न्यास लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गङ्गामें प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नहीं होती।

ये बातें सीधी जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दोडकर श्रमहाप्रभुके चरणोंमें आकर गिर पडे। अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे। श्रीमहाप्रभुने गङ्गास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी। तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतुःश्लाकीका उपदेश भी दिया था। ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए। श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंकी इनके द्वारा हस्तलिखित प्रतियां अद्यापि उपलब्ध होती है।

इस चतुःश्लाकीके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म, अर्थ, काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य, धन तथा विद्वत्ताके अहङ्कारसे मुक्त हुए। साथ ही साथ इस अहङ्कारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओंपर काबू पा सके। ये एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेकेलिए सक्षम हो पाये।

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निरुपाधिक होती है। स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टिजीवके हृदयमें भक्तिका रूप धारण कर लेता है। भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोंपर निर्भर नहीं होता। वह तो निर्हेतुक ही प्रकट होता है। जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान् होता है उस जीवमें वह प्रेम आसक्ति, व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमें अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओंमें 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है। भगवदनुग्रहको ही अतः दिशाभेदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है। अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते है और जब जीवके हृदयसे परावृत्त होकर पुनः भगवान्की दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं। निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमें समा नहीं सकती

तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमें बहने लग जाती है उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहांसे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे

अतः जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिसे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई प्रयोजन ही। केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्।।।स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तन्नैकट्यादन्यत्रापि भासते। उष्णस्पर्शवत्। यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः। (सुबो। १-१९-१६)।

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्यादामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नहीं हो सकती। ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है। श्रीमहाप्रभुने इस चतुःश्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोका विलक्षण रूप हमें समझाया है। चतुःश्लोकी ग्रन्थके ये चारों श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतुःश्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं। वृत्रासुरचतुःश्लोकीके भी चार श्लोकोंमें इन्हीं पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोंका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। प्रारम्भके तीन श्लोकोंपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति अपलब्ध होती है। इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सङ्ग्रहश्लोक दिया है।

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि।
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्।।

अर्थ:श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है। पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं। श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है।

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीमें भी हम पाते हैं।

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है। रसमीमांसामें रति-स्नेह संयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये है। अतः भक्तिमार्गमें भगवान्की अनुभूति जब संयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है। अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते है। रस द्विदलात्मक है अतः संयोग और वियोग दोनोमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग

जाये तो फलावस्था मानी जाती है। तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक है; और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है। क्योंकि धर्ममें-व्रजाधिपके भजनमें केवल संयोगका अनुभव होता है तथा काममें-हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका अनुभव होता है। जबकि अर्थ-भगवान्‌का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है, अतः मोक्ष-भगवद्‌भजनमें संयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमशः होने लग जाये तो भगवान्‌की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुंच जाती है। पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है।

पुष्टिभक्तका धर्म:

पुष्टिमार्गमें व्रजाधिप ही भजनीय हैं। क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमान्द रूप है। अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवैकुण्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताको लिये हुए व्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है। जीव चाहे सुसाधन हों या निःसाधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके निःश्रेयस्‌केलिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है। जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपने स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द के बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है।

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके अंशी होनेके कारण सहज स्वामी हैं। शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्मायें अंश होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास है। परन्तु लीलार्थ किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इस भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवैकुण्ठमें भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं। ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये। यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है। यथा सेवक, पुत्र, माता-पिता, सखा या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवान्‌का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती है। अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तिविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है। अपने दोनों प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवैकुण्ठ अथवा व्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते है। अतएव

भक्तके भावोंके अनुरूप स्वयम्‌को ढाल पानेकी कसौटीपर व्रजलीलाविहारी व्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंकेलिए पूर्णतम परमानन्द–स्वरूप सिद्ध होते हैं, मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द–स्वरूप होनेपर भी। अतएव व्रजभक्तोंकेलिए एवम् व्रजभक्तोकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंकेलिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टिफलोंके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं–''अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मकः।''

व्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावसे करना चाहिये? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं–'सर्वभावसे'। ''त्वमेव सर्वं मम देवदेव''–मेरे माता–पिता बन्धु–मित्र पुत्र धन–विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये। केवल मधुरभावसे भी भजन किया जा सकता हैं।

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनुरूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं। श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह बाह्य रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं। लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं। भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं। भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रसभोक्ता है तथा रसभावके रूपमें भगवान्‌को भोग्य भी माना जाता है। कभी–कभी भक्तपरवश होकर भगवान् आलम्बलनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं। इसे ''गूढ स्त्रीभाव'' कहा जाता है। भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाता है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव'। भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाय तो उसे 'गूढ पुम्भाव' कहते हैं। उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है। अध्ययन–अध्यापनकी दुर्लभ तन्मतामें गुरुका गूढ विद्यार्थीभाव कभी प्रकट होता है। इसी तरह विद्यार्थीका गूढ गुरुभाव भी इन गूढ़ भावोंका प्राकट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके–स्वामि–सेवक, पुत्र–माता–पिता, सखा–सखा या प्रिया–प्रियतम–सम्बधोंमें। भक्त और भगवान् में इन गूढ भावोंको प्रकट करनेके मनोरथसे भी भगवान् भजनीय हैं।

जिन भक्तोमें ऐसा गूढभाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंकेलिए भगवान्‌ने स्वयम्‌में ऐसे गूढभाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति दैन्यभाव रखते हुए भजन करना चाहिये–''अहं हरेस्तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि''। हमारे हृदयमें जब–तक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नहीं हो जाता तब–तक विविध भावोंकी भावना करनेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। प्रारम्भमें अतएव भगवत्सेवा व्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर–व्रजभक्तोंको अपना गुरु मानकर करनी चाहिये।

साधनावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यमसे व्रजभक्तोंके भावोंतक पहुंचानी पडेगी। किसी निश्चित दिशामें बहती एक नदीके समान भावना होती है, जो भावके रूपमें सागर बन जाती है। सागर बहता नहीं केवल लहराता है अतः व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान-जनित दैन्य और आत्मा-अंश तथा परमात्मा-अंशो के सहज निरुपाधिक स्नेहके साथ प्रारम्भमें कृष्णसेवा करनी चाहिये। सेवाके इस प्रकारकी ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है। आत्मनिवेदनके समय अहन्ता और ममता से जुडे सभी पदार्थों और सम्बन्धोंको हमें भगवान्‌को समर्पित करना होता है। इस सर्वसमर्पणके भावसे भी भगवद्-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये। यों 'सर्वभावेन'में सभी भाव विवक्षित है।

किसी कालविशेषमें एक कर्मकाण्डकी तरह भजनका अनुष्ठान हमें नहीं करना है। एक जीवनप्रणालीके रूपमें सर्वदा-निरन्तर अर्थात् किसी कालके नियमके बिना भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये, भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें-सोने-जगने-कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी-उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अङ्ग ही बन जाती है।

"पुष्टिभक्तकेलिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है" यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है। क्योंकि किसी आदेशकी अवहेलनाके कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता। श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे है किन्तु भगवान्‌के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं। पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है। जैसे कोई शिशु अपनी मांके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बेचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खडी फसल बरसात न पडनेके कारण सूख जाये ऐसे ही जिस पुष्टिजीवसे जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नहीं निभ पाती वह समय और जीवन उनका व्यर्थ चला जाता है। उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है पुष्टिजीवसे व्रजाधिपकी सेवा न निभना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है। इस अर्थमें व्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोंका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है-उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि समी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है-यही धर्म है। किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता।

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वभाविक धर्म नहीं

होते, किन्तु औपाधिक-आकस्मिक धर्म ही होते हैं। अविद्याके बन्धनके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं। उदाहरणतया स्त्री-पुरुष ब्राह्मण-शूद्र या गृहस्थ-सन्न्यासी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रमके अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं। मैं स्त्री हूं या पुरुष हूं, मैं ब्राह्मण हूं या मैं शूद्र हूं, मैं गृहस्थ हूं, या मैं सन्न्यासी हूं इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताकेलिए कारण तत्तद् देहोचित वर्णोचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारेलिए धर्म बन जाते हैं। इसी तरह माता-पिता और सन्तति, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तत् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है।

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमानमूलक है, जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है। अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश-काल-द्रव्य-मन्त्र-कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है। पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है। भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है। अतएव भक्तरत्न वृत्रासुर कहता है-

हरि मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ। मोक्षमें तो ज्ञानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने चाहिये। लौकिक अहम्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोंका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं सुहाता है। मरे भीतर 'दासोहम्'का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो। यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होउं तो मुझे आपके दासोंकादास बनाओ। मेरा मन, मेरे प्राणनाथ तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे-मेरी वाणी तेरे गुणोंको गाती रहे-मेरी काया सर्वदा तेरी सेवा करती रहे। ऐसी आशिष मुझे दो।

पुष्टिभक्तका अर्थ:

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही है। श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंकेलिए यह आवश्यक है कि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एवं सदा स्म कर्तव्यम्) इस कृष्णसेवाकेलिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमें उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपाजंनकेलिए अन्याश्रयवाली आधिदैविक भृतकवृत्तिमें ही उलझनेकी आवश्यकता है। भगवान् तो अन्याश्रय अथवा प्रार्थना की अपेक्षा रखे

बिना भक्तिके हितमें अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षेमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेगें। एतदर्थ उन्हें किसी लौकिक-पारलौकिक साधनोंकी या अर्थोकी अपेक्षा नहीं है। भगवान् भावात्मक हैं अतः छोला और छप्पनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया जाये, समान रुचिसे स्वयमेव अङ्गीकार करेगें। अतः लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है।

श्रुतिमें कहा गया है-''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' अर्थः यह परमात्मा प्रवचन मेधा या बहुश्रुततासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी प्राप्तिकेलिए यह जिस जीवात्माको चुन लेता है उसे ही मिलता है-उसके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है। अतः इस परमात्मस्वरूप अर्थका उपार्जन हमारे साधन या व्यापार से शक्य नहीं है। जिस जीवात्माका वरण वह सर्वसमर्थ परमात्मा करता है। उस जीवात्माके साधनोंकी वह परवाह नहीं करता। भगवत्सेवाके अधिकारी वे ही जीव होते है, जिनका भगवान् अपनी सेवाकेलिए चुनाव करते हैं, जिन्हें भगवान् अपनी सेवाकेलिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्यस्वरूप गूढ स्त्रीभावको प्रकट करते है। जिन जिवोंकेलिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी ठान लेते हैं वे ही जीव भगवान्केलिए अपने-आपको समर्पित कर पाते हैं इस परस्परके समर्पणके बाद जीवात्मा और परमात्मा के बीच कोई परदा रह नहीं जाता। अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टिजीवका गूढपुम्भाव प्रकट हो जाता है।

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवानने वरदान दिया था। वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी। भगवान्ने उनके चीर हर लिये यह चीरहरण भगवानमें प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुम्भावका वितरण था। कुमारिकायें श्रीकृष्णकेलिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकी श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें वृत करलिया था-चुन लिया था। चीरहरण तो केवल प्रकट पुम्भाव और स्त्रीभावों का विनिमय मात्र था इसके बाद जो कुमारिकाओंमें भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था; और न छ बरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो तारुण्य और न किसी वैसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, का कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है। ऋषि-मुनियोंके तप एवम् व्रत का भङ्ग तो कामदेव कर सकते है, परन्तु इन छह बरसकी कुमारिकाओंमें श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामादपि कमनीय रूपका ही था। प्रमेय-प्रकरणमें श्रुतिरूपा गोपीकाओंके श्रीकृष्णके प्रति निरूपाधिक स्नेहको शृङ्गारोपाधिक गूढ पुम्भावके रूपमें इसी शृङ्गाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था। निरूपाधिक

निराकार स्नेहको शृङ्गाररसके स्थायिभावके आकारमें वेणुकूजनकी छेनीसे गढा था अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं–‘‘केवलं शृङ्गारार्थमेव कूजनम्’’ (सुबोधिनी–वेणुगीत)।

श्रीकृष्णके बारेमें किसी भी प्रकारका स्नेह–दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्यभावात्मक–स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोंके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यसे ही सम्भव होता है।

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते हैं तब जीवमें दास्यभाव जगता है। श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमें वात्सल्य उभरता है। श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बेचारा कंस भयभीत हो जाता है। श्रीकृष्णकी क्रीडाकी इच्छासे किसी सखाको खोजनेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है। श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमको अङ्कुरित करती है। वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अङ्गडाई लेने लगता है। उस आत्मारामके भक्तकाम बननेपर भक्तोंमें अलौकिक भगवत्काम प्रकट होता है। वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मां यशोदाकी गोदमें गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है। हां, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टिभक्तकी सेवाके बिना रह न सके इतना असमर्थ भी बन जाता है। वह काल–कर्म–स्वभाव–प्रकृति–पुरुष किसीके भी अधीन नहीं है–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। हम परतन्त्र है। परन्तु वह स्वतन्त्र–परतन्त्र है। अतएव कहता है–‘‘अहं भक्तपराधीन ह्यस्वतन्त्र इव’’, अर्थात् हम ‘अस्वतन्त्र एव’ हैं पर अज्ञानवश अपने–आपको ‘स्वतन्त्र इव’ मान लेते हैं। वह ‘स्वतन्त्र एव’ है अतएव कृपावश ‘अस्वतन्त्र इव’ बन जाता है

वह सर्वसमर्थ सर्वभोक्ता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है–सम्यक् अर्थ है। अर्थ किन्तु भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा। अन्यथा भावात्मक अर्थके भोण्डे प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है–चुर जाता है। अतः ‘अर्थ’ कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वसमर्थ’ कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये। अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है।

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ–प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोडकर हमारे हृदयके स्थायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उद्यत है। अतः लोकार्थिताके भावोंको हृदयमेसें इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से बुहारना पडेगा। अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पडेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी इन प्रतीक्षाकी

घडियोंमें बाहर खडे पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गांवमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रसाभास हो जायेगा क्योकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एक ही दिशा है–"प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत"। वृत्र तो असुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिमय करनेका मनोरथ नहीं करता।

न तो मुझें लौकिक सात्विक अर्थ स्वर्गका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुझे लौकिक राजस अर्थ सारी पृथ्वीके धनका स्वामी ही बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लोकोंका आधिपत्य ही। न मुझे वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगसिद्धियोंकी ही कोई कामना है और न वैदिक सात्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव–मोक्षकी ही कामना है। मेरे सर्वार्थरूप केवल हरि है–उनके अलावा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये (प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत)।

पुष्टिभक्तका काम:

श्रीकृष्ण–दर्शन–कामना ही पुष्टिभक्तका काम पुरूषार्थ है। नेत्रोंसे श्रीकृष्णके केवल दर्शनमात्र करनेके सीमित अर्थमें दर्शनाभिलाषा नहीं लेनी चाहिये। श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि पुष्टिभक्तकी कामना नेत्रोंसे केवल भगवान्के दर्शन कर लेनेसे पूरी नहीं हो जाती–वह तो सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की अनुभूति चाहता है। अत: नेत्रोंसे साक्षात्कार होना ही फल नहीं है (दृष्टेपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियै: साक्षान्नानुभूयते न तावत्स्वास्थ्यमिति न साक्षात्कारमात्रं फलम्। (टिप्पणी १०।२०।२९)। अतएव आगे निरोधलक्षण ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि संसारावेशसे दूषित इन्द्रियोंका हित इसीमें निहित है कि भूमा–परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड दिया जाये। दर्शन–स्पर्शन–श्रवण–किर्तन–ध्यान आदि क्रियाओंसे आन्तर–बाह्य सभी इन्द्रियोंको भगवदभिमुख बनाना चाहिये। जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये।

श्रुतिमें जीवको–"काममय एवायं पुरुष:" कहा गया है। यह काम कौनसा है? सभी जीव चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हों, मर्यादामार्गीय हों, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोंसे परमानन्दकी कामना है। "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"। नेत्रोंसे, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोसे हम खोज रहे हैं परमानन्दरूप श्रीकृष्णको ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं।

इस परमानन्दकी खोजयात्रामें शीघ्रतया उसे प्राप्त करनेकेलिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है। अपनी बुद्धिको अपना सारथी बना लेती है और मनकी

लगामसे बन्धे हुए इन्द्रियोंके घोड़ोको सरपट दोड़ाती है। ये इन्द्रियोंके घोड़े लेकिन बड़े ही उद्धत हैं–दौड़ते–दौड़ते ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं; और।।। बेचारे जीवको लौकिक विषयोंकी वासनाके गर्तमें गिरा देते है शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है–नष्ट हो जाता है

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका खेल है। मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मोड़पर जो जीव अपने रथकी दिशा बदल नहीं पाते उनका तो विषय–वासनाके गर्तमें विनिपात निश्चित ही होता है। ऐसे जीवोंको 'प्रवाहिजीव' कहा जाता है। मर्यादामार्गकी ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोंको मोड़नेवाले मर्यादिक जीवोंपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है। वे मनोनिग्रह–मनकी लगाम खींच–करके रथको कथञ्चित् रोक देना चाहते हैं। कभी रथसे उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते हैं। कभी स्वर्गादि लोक या आत्मसुख के पडावोंपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते हैं। कभी असीम एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहुजन्म जन्मान्तोंतक पूरी न होनेवाली अधिक क्लिष्ट यात्रापर निकल पड़ते हैं। कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घोड़ोके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का सामञ्जस्य बिठा नहीं पाते, पस्तहिम्मत होकर पैदल चलना अधिक पसन्द करते हैं (ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, सङ्घातस्य विलीनत्वात्, भक्तानां तु विशेषत: सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्त:करणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात्।।।विशिष्यते)। अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं–"वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्। यत्संस्कारयोग्यं तज्ज्ञानेन नश्यति यदयोग्यं तत्परित्यागेन। अतएव स्मार्तै: संस्काराशक्तै: परित्याग एव बोध्यते" (सुबो।) अर्थ:ज्ञान और वैराग्य से सारे ताप दूर हो जाते हैं, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णको भलीभान्ति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोंको (ब्रह्मसम्बन्ध) संस्कारसे शुद्ध कर पायेंगे। अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारसे शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये। यही कारण है कि स्मार्त लोग संस्कारद्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं। व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्‌को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है।

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभान्ति जानना आवश्यक होता है। पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रश्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है।

एक परमात्माकी आत्मक्रीडाकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्ति यह समग्र जगत है। हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं। मूल अंशीके

व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता–ममताके वशीभूत हो कर कोई शुद्र प्रयोजन घड़ लेते हैं, तभीसे सारी मुसीबतें खड़ी होने लगती हैं। इन्द्रियोंके तेज दौड़नेवाले घोड़ोंके रथमें तेजीसे भागते हुए हम दिशा भूल जाते हैं। अतएव शरणागति हमारी अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारी ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है। अहन्ता–ममताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है। ऊबड़खाबड़ विषयवासनाके प्रदेशमें रथ दौड़ानेके बजाय हम पुष्टिके ऋजुमार्गपर पुन: आरूढ़ हो जाते हैं। विषयोंके सेवनमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये–प्रेमसम्वलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा। अतएव उपनिषद्में परमात्माको–''सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदम्'' कहा गया है।

श्रीगोकुलाधीशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंसे उन्हें चाहनेकी पहली शर्त है। यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्हें आंखोंसे भी देखा जा सकता है, कानोंसे सुना जा सकता, हाथोंसे पकड़ा जा सकता है और चरणोंसे दौड़कर परमात्माके निटक पहुंचा भी जा सकता है। आवश्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं।।

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च।
आश्लेष: सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविध:।।
अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा।
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वत:।।
तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा।
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा।।
यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो फलं भवेत्।
एवं मोक्षेपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि।। (वेणुगीतसुबो।)

''गिरधर देखे ही सुख होय नयनवन्तको यही परमफल, यही विधि मोय त्रिलोय'' अतएव श्रीमहाप्रभु श्रीगोकुलाधीशके वियोगके तीव्रतापमें हृदयमें–मनमें प्रकट होती भगवान्की स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति को 'परमफल' कहते है। क्योंकि एकबार हृदयमें भगवान् बिराज जाते है तो देर–सबेर सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूतिकी कामना भी जग ही जाती है। इस कामनाके जगते ही अन्य लौकिक–वैदिक विषयोंकी कामनाओंका आकर्षण नि:शेष हो जायेगा। भगवान् स्वयम् कहते हैं–''न मय्यावेशितधियां काम: कामाय कल्पते, भर्जिता: क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते'' (भाग।) अर्थ:जिनकी बुद्धि भगवान्में

लग गयी हो उनका काम कामार्थ नहीं रह जाता, जैसे भूंजे या उबाले हुए धान बीज नहीं बन सकते।

सभी इन्द्रियोंसे होनेवाली इस भगवदनुभूतिको वेणुगीत और भ्रमरगीत की सुबोधिनीमें 'सर्वात्मभाव' यमुनाष्टकमें 'तनुनवत्व' और सेवाफलमें 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है। यही निरोधकी फलावस्था है, जिसे यहां चतु:श्लोकीमें 'मोक्ष' कहा जायेगा। परन्तु इस सर्वेन्द्रियोंद्वारा भगवदनुभूतिसे जीव सम्पन्न हो उससे पहले सर्वेन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिकी कामना-पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है। यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया समझ लेना चाहिये। अतएव वृत्र कहता है-

हे अरविन्दाक्ष मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है। जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो सभी इन्द्रियोंकें द्वारोंसे वह तुम्हें अन्दर पधराना चाहता है। जैसे पक्षीके पंख बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा, चुगेकेलिए करते हैं-जैसें गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करता है। सम्भवत: चुगा या दूध और कहींसे मिल जाये तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, पर मेरा मन तो परदेश गये प्रियतमकी विररिणी प्रेमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानमें-मनोरथोंमें जुड़ा हुआ केवल तुम्हें ही देखना चाहता है

पुष्टिभक्तका मोक्ष:

सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है। सर्वात्मना श्रीकृष्णके बननेका मतलब है-प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमें दृढ़ आसक्ति। भक्तको कृष्णानुभूतिका व्यसन हो जाना। निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो संयोगमें बाह्यालम्बनसे सभी इन्द्रियोंसें कृष्णका अनुभव हो, अन्यथा वियोगमें आसक्तिभ्रमन्यायसे पूर्वानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम् लीलाका रोमन्थ-जुगाली इतनी तीव्रतर हो जाये कि अन्त:स्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाये

संयोगमें भजन, धर्म और वियोगमें स्मरण-स्मर-काम निरन्तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये। यह अनुभूति यदि इस भूतलपर होने लग जाये तो उसे जीवन्मुक्ति समझनी चाहिये। इसे ही 'तनुनवत्व' या 'अलौकिक सामर्थ्य' भी कहा गया है। नित्यलीला-व्यापिवैकुण्ठमें यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये। इसे ही 'नवतनुत्व' या 'सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु' कहा गया है। सङ्क्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्रके रूपमें चल पड़ना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तिमें मोक्ष माना जाता हैं।

क्योंकि पुष्टिभक्तिका अर्थ-व्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं-स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है। अत: वियोग और संयोग दोनोंमें वह अनुभूत हो सकता है यही श्रीगोकुलाधीशका स्मरण और भजन है।

श्रीमहाप्रभु कहते हैं-''ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेवं चेद् रोधनं स्थिरं, पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते'' (भाग। निबन्ध) अर्थ:भगवान्के वियोगमें भगवान्के गुणोंका गान ज्ञानरूप है; और संयोगमें प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है। यह होनेपर जीव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है। व्रजकी स्त्रियों और पुरुषों को रातमें और दिनमें इन्हीं ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था। उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था

पुष्टिभक्ति अपने आपमें मार्ग भी है और गन्तव्य भी-साधन भी है और फल भी। अतएव संयोग-वियोगमें भजन-स्मरणके चढ़ाव-उतारोंमें निरन्तर चलते रहना यहां मुक्ति है। पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र कहीं पहुंचना नहीं है-केवल निरन्तर इसी सुहावने मार्गपर टहलते रहना है-चरैवेति चरैवेति चरैवेति

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहयात्रियोंका साथ मांगता है कि कभी वह अकेले चलते हुए अन्य मार्गोपर भटक न जाये-

हे नाथ मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोंका ही सङ्ग-साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे। कभी संसारासक्त व्यक्तियोंका सख्य मुझमें न पनपने पाये यदि यह देह, पुत्र, स्त्री, गृहादि विषयमें मेरी आसक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भरकेलिए ही और किसी हेतुसे नहीं मैं समग्रतासे तेरा हो जाऊं और तू समग्रतासे मेरा।।।

वि। सं।१९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित चतु:श्लोकीका प्रकाशन हुआ था। वृत्रासुरचतु:श्लोकीका प्रकाशन वि। सं। १९७८ में हुआ था। प्रस्तुत संस्करण उन्हींका ऑफ सेट प्रॉसेसमें पुनर्मुद्रित रूप है। ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजके ''श्रीजीवनेशाचार्य-पुष्टि-सिद्धान्त-कार्यालय'' से प्रकाशित हुए थे। इनके संयुक्त-सम्पादक थे श्रीचीमन ह। शास्त्री तथा श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री। इन सभी महानुभावोंका हम इस पुन:प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं।

श्रीकृष्णाय नमः।

चतुःश्लोकी।

श्रीमदाचार्यप्रकटिता।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।१।।

एवं सदा[1] स्म[2] कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो[3] निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं[4] ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

अतः[5] सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा।

---

१ सताम् इति सति इति च पाठः। २ स्वकर्तव्यम् इति पाठः। ३ तेनेति पाठः। ४ अपरैरित्यपि पाठः। ५ तत इत्यपि पाठः।

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

चतुःश्लोकी।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवृतियुता।

श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्गोपीशपादाम्बुज-
द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः।।
स्फूर्जद्गोपकदम्बिनीविलसितप्रेमाख्यवर्त्माकरो
भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्ठलो वाल्लभिः।।१।।

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाश्चतुर्भिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विवृण्वन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यामेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।१।।

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन **सर्वदा व्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः। सर्वैरिति शेषः। स्वस्यायमेव धर्मोन्यो न। क्वापि कुत्रचित्। कदाचन** कस्मिन्नपि काले इति अर्थः। हि इति युक्तश्चायमर्थः। सहजदासत्वेन जीवस्य यतोयमेवार्थः शृत्या प्रतिपाद्यते। अत एवास्मत्प्रभुचरणै[1]''निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्म'' इति निरणायि। सर्वदेतिपदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम्। धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे कालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव। अत्र तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति। किञ्च, सर्वदेतिपदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणे अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात्। यथा पतिव्रतायाः क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनने व्रतभङ्गस्तथात्रापि इति ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तम् इति भावः।-

---

[1] विद्वन्मण्डने-तथा चाणुपरिमाणस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सकाशान्निर्गतस्य ब्रह्मणा स्वसेवार्थमेव निजैश्वर्यस्य निर्विषयत्वपरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यात एव सहजहरिदासस्य तदंशत्वेन ब्रह्मरूपस्य च निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः।तेन चातिसन्तुष्टः स्वयं प्रकटीभूय निजगुणांस्तस्मै दत्वा स्वस्मिन्प्रवेशयति स्वरूपानन्दानुभावार्थम् इत्यादि निरूपितम् ।

सर्व भावेनेति। सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा। पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थ:। एतदेवोक्तमाचार्यैरेव “तादृशीं भावनां कुर्यात्” इत्यादि। यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते। सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मे तत्रैव शक्ते:। अत एव व्रजमण्डनाभिरुक्तं, “सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्” इति। तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भाव:। यद्वा, सर्वो भगवति यो भाव: स्त्रीभाव इति यावत्। भगवति स एव भाव: प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्वशृङ्गारादिप्रकारयुक्ते भगवति यो भाव: स तथा। अत एवास्मत्प्रभुचरणैरुक्तं “यद्यपि[1] युवतिवेष” इत्यारभ्य “पुंसामपि युवतीभाव उद्वेल” इति अन्तं पद्यद्वयेन। अत एवास्मत्प्रभुचरणै: श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं “एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव हि” इति, ‘स्त्रीभावो गूढ’ इत्यादि च। ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्बोधनमनुपपन्नमाभाति इति चेत्? सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा बृहद्वामने “स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशवम्” इत्यादिनोक्तम्। यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवोत्रोच्यते, यत: सर्वशब्दस्य तत्रैव शक्ति: तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथन पूर्वकसर्वसामग्री सम्पादनेनेतिभावहृदयम्। **व्रजाधिपपदेन** पूर्णपुरुषोत्तमत्वं ज्ञाप्यते। यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिंश्च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यति इति व्रजाधिपनाम्ना द्योत्यते। तेषु स्वाधिपत्यं तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितवामकरशिखरिवरधारणप्रोद्यदुत्साहोल्लसितहृदयेन श्रीगोकुलनाथेनैवोक्तं “मन्नाथं मत्परिग्रहम्” इत्यादिना। एवं भगवत: स्वस्याधिपत्वं हृदि कृत्वा भजनीय इति भाव:। स्वस्य **तदंशत्वेनायमेव धर्मो नान्य** इति अर्थ:। अत एव स्मर्यते “यो यदंश: स तं भजेत्” इत्यादि। अस्य स्वधर्मत्वोक्त्यान्यधर्मकरणे बाधकत्वमेव स्यात् इति अर्थ:। अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं “स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह” इति। अस्य स्वधर्मत्वोक्त्या अन्यत्र तदभाव: स्वत: सिद्ध एव, तथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्ते अन्यथा न विचारणीयम् इति भाव:। यतस्ते बहिर्मुखा देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न तु भगवद्धर्मम् इति। धर्मशास्त्रस्य तदुद्देशेनैव[2] प्रवृत्तेस्तदनिरूपणं[3] युक्तमेव। अत एव युधिष्ठिरेण “को धर्म: सर्वधर्माणां भवत: परमो मत” इति पृष्टो भीष्म: प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या तत्सेवनं च परमधर्मत्वेनोक्तवान्। नन्वयं[4] कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते। उच्यते। सत्यमस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वात्तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य इति सर्वमवदाम्। अत एव श्रीवराहैरुक्तं, “अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणि”

---

१ शृङ्गाररसमण्डने दशमोल्लासे। २ देहोद्देशेन। ३ भगवद्धर्मानिरूपणम्। ४ ननु स्मार्ता एव ते इत्यपि पाठ:।

इत्यादि। सा सृष्टिर्भगवता स्वसेवार्थमेवोत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्म इति भावः। तत्र[१] देशादिसाधनस्योक्तत्वाद्धर्माभास एव न तु धर्मोपि, स्वतो दुर्बलत्वादन्यसापेक्षणमप्यत[२] एव। अत्र तदभावम् आहुः[३] क्वापि इति। अस्य धर्मिमार्गत्वात्प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु न देशादिनियमो, यतो देशाद्याधिदैविकसम्पादनं भगवतैव। अत एवोक्तं श्रीभागवते “तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते”ति। तेन अन्यः क्वापि न। अयं तु धर्मिरूपत्वादतिप्रबलत्वादतिरोहितत्वात्क्वापि भवत्व इति भावः। धर्मिधर्मयोरभेदाद्धर्मोक्तिरिति भावः। कदाचन कस्मिन्नपि काले अन्यधर्मः स्वधर्मो न इति अर्थः। भक्तानां धर्मरूपोपि भगवानेव भजनीय इति भावः। किञ्च, धर्मेणैवेष्टसिद्धिः, यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते। “धर्मेण पापमपनुदति” इत्यादिना पापस्यैवेष्टप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात्। तत्र[४] साङ्गविधिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिस्ततः पुनस्तत्करणेन फलप्राप्तिः। सा चातिदूरतरा, यतः साङ्गकरणं न सम्भवति। अतः स्मर्यते, “यस्य स्मृत्य” इति आरभ्य “न्यूनं सम्पूर्णतां याति” इत्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता। अन्यथा विधिशेषत्वं भवत्येव। अत्र विधेरेवाभावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्द एव फलाप्तिरिति भावः। अत एव यदुकुलामृताब्धिसुधादीधितिनाऽगादि “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” इति आदिना। विधिहीनानां धर्मादीनामसाधकत्वं योगियाज्ञवल्क्येन स्मर्यते “विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्। तद्धरन्त्यसुरास्तस्य सुमूढस्याकृतात्मन” इति। किञ्च, भक्तानां भगवानेवेष्टस्तत्प्राप्तिश्च नान्यधर्मैर्भवति, विना तत्सेवनम्। तस्मात्तद्विप्रयोगतापे सति तत्प्राप्त्यर्थं च यद्भगवत्सेवनं तद्धर्मरूपमेवेति भावः। अत एव शुकवागमृताब्धौ “भक्त्या सञ्जातया भक्त्या” “भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय” “प्रीयते अमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्” “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” “श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्” “प्रतिष्ठ्या सार्वभौमम्” इत्यारभ्य, “मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति” इत्यन्तेनैवं वाक्यसहस्रैर्भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः। तत्रैव पुनर्भगवता सर्वधर्मान्निरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रत्युक्तं “सर्वेषां मदुपासनम्” इत्यारभ्य, “इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्” इत्यन्तेनानन्यभजनस्यैव स्वधर्मत्वम्। तस्माद्धर्माकाङ्क्षायां भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीय इति भावः। किञ्च, अन्यधर्माणामधिकारिपरत्वमुक्तं, प्रभुचरणैः स्वभजनस्य च सर्वेषामधिकारित्वम्। तेन सर्वपापशोधकनिर्मलवस्तुनो नाधिकारादिकपेक्षितम्। तस्माद्धर्मपदस्य भगवद्भजन एव शक्तिः। तथा च तेजवत्स्वन्यत्रापि दृश्यते। अतिरोहिताधिदैविकगङ्गास्नाने पापनिवर्तकत्वं, अग्नेश्च दाहकरणे अविचारस्तथान्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्स्यात्तदेष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव, सर्वेषां च

---

[१] स्मार्ते धर्मे। [२] दुर्बलत्वादेव। [३] तदभावार्थम् इति। [४] धर्मेणेष्टसिद्धौ।

तत्करणे अधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः। हि इति युक्तश्चायमर्थः, सर्वात्मकस्य भगवत एव सेवनमात्मधर्म इति। यद्वा, हि इति युक्तश्चायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम्। यतो भगवताप्युक्तं "भक्त्या त्वनन्यया ग्राह्यः" "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्" इत्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नत्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयम् इति भावः।।१।।

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपम् आहुः **एवम् इति**।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते। तदेव आहुः **प्रभुरिति**। **प्रभुः स्वामी भक्तानाम्**। सर्वरूपश्चासौ सम्यगर्थरूपश्च यतः, तस्मात्**स्वयमेव करिष्यति ततः कारणान्निश्चिन्ततां** निश्चिन्तस्य भावं व्रजेत् इति अर्थः। एवमेव कर्तव्यम् इति। स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता। अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति। प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षणादिकं प्रभुरेव करिष्यति। एवं **सदा निश्चिन्ततां व्रजेत् इति** अर्थः। यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यत्नः क्रियते तस्य जडत्वादत्र प्रभोरेव तदुक्त्या यो गोप्योंशस्तं प्रभुरेव भावादिरूपं गोप्यं करिष्यति इति। स्वयं निश्चिन्तो भवेत् इति भावः। अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, "चिन्ता कापि" इत्यादि। यथार्थस्य सम्यग्गोपने कृत एव **निश्चिन्तता** भवेत्तथात्र तं भावमर्थरूपं बहिर्मुखादिचौरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायति इति सिद्धवत्कारेण **निश्चिन्ततां व्रजेत्** इति उक्तम्। यथार्थस्य गोपनं सर्वेभ्यः क्रियते तथास्यापि भावस्यातिगोप्यत्वान्नोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तम् इति भावः।

यद्वा, **प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेत् इति अर्थः**। यथार्थेनैव सर्वसाग्र्यादिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोग्यदेहयौवनादिसामग्रीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति। यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्यगर्थः स एवेति सदैवं तथा भवेत् इति भावः। अयमेवार्थो रसाब्धिसुधाकरश्रीमत्प्रभुचरणै रससर्वस्वे निर्णीतः। "विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासीदतिस्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम्। तदङ्गगुणो न तद्व्रतकृतो अन्यदीयोपि वा विचित्ररसभावितप्रियकटाक्षगोयं परम्" "वय एव यदीदृशं तदीयं किमु वाच्यं सखि विग्रहाद्यशेषम्। रसरूपम् इतिन्दिरादुरापं रसमापुर्यदुदारतो रसाब्धे"रित्यादिना। तेनार्थस्याधिदैवरूपायास्तस्या[१] यद्दुरापं तदर्थासाध्यं तु भवत्येव, भगवता च स्वीयेषु तत्सम्पाद्यते। तस्माद्भगवानेवास्माकमर्थरूपो अस्ति, स एव सर्वं करिष्यति इति ज्ञात्वा,

---

[१] लक्ष्म्याः।

एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन **सदा** भजनं कर्तव्यम्। ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्यति इति भावः। ननु तथाकरणं व्रजवरकुमारिकास्वेव सम्भवति, तासां योग्यत्वादन्येषामयोग्यत्वात्कथमेवं बोधनम् इति चेत्? सत्यं, तदयोग्यत्वं जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेवेति भावः। अत एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचार्यैरेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृतं “तद्दुरापत्वेपि तदाशया तद्भजनमेव कार्यम्” इति उक्तम्। तदप्राप्तिश्चेत्स्यात्तदा ‘तदाशये’ति नोक्तं स्यात्। तथा च श्रीगोपीजनप्रेमकुमुदबन्धुश्रीविट्ठलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्वे चालेखि, “सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति तदा भगवानप्यङ्गीकारोत्येवे”ति। ‘यद्वानङ्गे’त्यस्मिन्पद्येपि “यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्घोषनितम्बिनीत्वमचिरात्कर्त्ता प्रियः प्रायश” इति। तस्मात्तदनुग्रहेण तथाभवति इति भावः। अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना “ये यथा मां प्रपद्यन्ते” इति उक्तम्। यद्वा, **स्वयं** कर्तव्यं भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु **समर्थो हि प्रभुः** करिष्यत्येवास्मद्दर्शनार्थम्। सदा एवं निश्चिन्ततां व्रजेत् तत्प्रकारकभगवल्लीलादर्शनार्थं चिन्ता न कार्या। प्रभुः स्वत एव करिष्यति इति भावः। स्मेति प्रसिद्धिः। यतः प्रभुणैवोक्तं “अहं भक्तपराधीन” इति। तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितकरणं स्वत एव सिद्धम्। हि इति निश्चयेन युक्तश्चायमर्थः। यतो भगवदर्थं “सन्त्यज्य सर्वविषया”नित्यादिवद्ये त्यजन्ति तेषां मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्यमेव। अत एव भगवतैवोक्तं “ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्” इति अनेन। भरणकरणोक्त्या यथा तेषां स्वलीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकायां स्वस्मिन्नेव स्थापयामि इति भावः। अर्थेनैव स्वमनोरथाभिलाषो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरिव सदा, तथात्र श्रीमत्प्रभुचरणसेवनेनैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः। यथार्थं विना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिध्यति तथात्रार्थाधिदैविकलक्ष्मीप्रवेशं विना भगवद्रमणभोगौ च न सम्भवतः। सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्रभुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ सम्भवेताम्। भगवदाज्ञयैव भगवदेकशरणायास्तस्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूपः। अत एव श्रीगोकुलनाथवागधिपतिश्रीमत्प्राणेश्वरैः फलप्रकरणे “सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया निविष्ट” इति। अस्यार्थस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्सर्वसमर्थ इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यलं लेखनेन। तच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तानां हृदि प्रभुमुखेन्दूदयेन स्वत एव भावाब्धिवीचिप्रचारो भविष्यति इति भावः।।२।।

एवमर्थस्वरूपमुक्त्वा कामस्वरूपं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशेति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

श्रीगोकुलाधीश: सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकै: लोकसम्बन्धिसुखै: वैदिकैरपि वेदोक्तकर्मजन्यै: स्वर्गादिसुखैरपि **किमपर**मस्ति? न किमपि इति अर्थ:। **त्वं ब्रूहि** स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते। यत् इतिपदेन कस्यचिदेव परमभाग्यवत: कृतपुण्यपुञ्जस्याग्निकुमारीणामिव भावो भवति इति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते। गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते। अत एव स्व:स्वामित्वाभिमानिभिरपि इन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिषिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन। एतदेवोक्तं “इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य स” इति। गोगोकुलोक्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति भाव:। तेन तासामधीशोतिरसिक: प्रेमरसज्ञश्च। अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तम: कथं गोपीनां पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वमङ्गीकुर्यात्। तासां केवलं प्रेम्णैवाङ्गीकारात्स चेद्धृदि तद्योग्यस्वरूपभावेन धृतस्तदा तथैवाङ्गीकुर्यादेवेति गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते। सर्वात्मना सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत्। अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव। यथा व्रजभाग्यरूपाणां सर्वात्मभाव: कामभावात्मक एव, अत एवोक्तं “गोप्य: कामात्” इति। तथास्मिन्नाचार्यप्रकटितपुष्टिमार्गे तादृक्प्राप्तिरेवोच्यते। स एव भाव उपदिश्यते। ता एव च गुरव इति आचार्यैरेवोक्तं सन्न्यासप्रकरणे “गोपिका: प्रोक्ता गुरव: साधनं च तत्” इति। तेन सर्वात्मना कामाभावेनेति भाव:। अस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्स्पष्टतया नोक्तम्। एवं प्रकारेण चेद्धृदि स्वयं धृत:। स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव “मैवं विभो अर्हति” इत्यादिरीत्येति भाव:। तथा चेद्धृतस्तदा **लौकिकै: पतिभि: वैदिकै: स्वर्गादिभि:,** पुत्रादिभिर्वा अपरं किं? न किमपि इति अर्थ:। अत एव लौकिकवैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीव्रजनाथप्राणवल्लभाभिरेवोक्तं “सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवे”ति, “पतिसुतादिभिरार्तिदै: किम्” इत्यादिभिस्त्यागमुक्त्वा पश्चाद्भजनार्थमुक्तं “तन्नो निधेहि” इत्यारभ्य “तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्” इत्यादिना। भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्ज्ञायते चास्यैव भावस्य प्राबल्यम्। तस्मादपरं न किमपि इति भाव:। त्वया चेज्ज्ञायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि। यद्वा, गोपदमिन्द्रियवाचकं, तेनेन्द्रियकुलस्य प्रभु: **सर्वात्मना** पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकै: पतिभि: किं? न किमपि इति अर्थ:। अत्रायं भाव:। यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणि इन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मेन्द्रियसाफल्यम्। तदेवोक्तं व्रजवरवरणीयाभि“रक्षण्वतां फलम्” इतिपद्ये। श्रीमदुद्धवैश्च “किं ब्रह्मजन्मभि”रिति तासां भावदर्शनेनान्यजन्मवैफल्यमुक्तम्। तस्मादेवं यदि प्रभुर्धृतस्तदा अपरं लौकिकै: पतिभि: किं भविष्यति न किमपि इति भाव:। वैदिकैरिति पतिविशेषणम्। वेदोक्तैरपि लौकिकै: किम् इति। अयमर्थ:। वेदे पतिभजनेन मोक्ष: स्यात् इति उक्तम्, तत्तु सम्प्राप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम्। अत एवोक्तमाचार्यै: “इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा। यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो: फलं भवेत्। एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि”। तस्मात्तै: किं ब्रूहि? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यतेपरमपि

किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि। ननु भगवदप्राप्तिसमये लौकिकेष्वेव सम्बन्धात्कामस्य च बलिष्ठत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरम् इति चेत्। न। भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र कामो न सम्भवत्येवेति श्रीव्रजकुमारिकाकामपूरणपारिजातचरणेन श्रीनन्दकुमारेणवोक्तं ''न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते'' इति। यद्वा, लौकिकैरपि दृश्यादिगुणैरपि, सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्व्रजेन्द्रदिङ्मुखालङ्करणमुखचन्द्राभिरुक्तधर्मैः ''चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जे''त्यादिभिर्यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतस्ततो अपरं किं, न किमपि इति भावः। एवं सर्वप्रकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः।।३।।

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपम् आहुः ततः सर्वात्मनेति।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः।।४।।

ततः कामभावात्मकभक्त्यनन्तरम्, पुनः **सर्वात्मना** सर्वात्मभावेन, **शश्वत्** निरन्तरं **गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं** तथैव **भजनमपि न त्याज्यम् इति** मे मम मदीया मतिरित्यर्थः। अत्रायमाशयः। कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्सबन्धस्वभावमर्यादाजनिततुल्यत्वप्रमदात्वभदेनान्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्भावाच्च्युतिः स्यात्। ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यम् इति भावः। शश्वत् इतिपदेन क्षणमप्यन्यथाकरणे सर्वथा असुरप्रवेशः स्यात् इति ज्ञाप्यते। **गोकुलेश्वरनाम्ना** यथा तेषां सर्वभावप्रपत्त्या सन्तुष्टश्चातुर्यादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान् तथात्रापि तवापि करिष्यति इति ध्वन्यते। पादेषु द्वन्द्वकथनेन श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते। **स्मरणपदेन** स्मरणं चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विप्रयोगसमये स्मरणम् इति भावः। अन्यथा तद्विप्रयोगस्यातितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यात् इति भावः भजनं सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति भावः। चकारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव कर्तव्यम् इति भावः। अपिशब्देन भगवान् भजतु वा मा भजतु, स्वस्य भजनीय एवेति भावः। अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डायितपादपद्मैः श्रीविट्ठलनाथैरगादि, ''मारणे वरणे वापि दासीनां नाप्रभुर्गतिरि''ति। अयमेवार्थः[१] स्वयं **न त्याज्यम्** इति स्वकरणकात्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः। **मे मतिरिति** स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः। भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरुषार्थः। मोक्षादप्यधिकत्वं भक्तेः सिद्धमेव। तस्मात्पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनस्यैवेति भजनमेव निरूपितम्। भक्तेर्मोक्षाधिकत्वं तु श्रीभागवते बहुधैवोक्तम्। तथा हि ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्ये''

---

[१] भजतु वा मा भजतु इति।

त्यारभ्य ‘‘विना मत्सेवनं जना’’ इत्यन्तं; ‘‘स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन’’ इति च। ‘‘वीक्ष्यालकावृते’’त्यारभ्य ‘‘भवाम दास्य’’ इत्यन्तेन पद्येन च। तेन भजनं सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः। मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वकरणकात्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयकरणेन भगवान् स्ववशे भवति इति ज्ञाप्यत इति भावः। एवं मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वकथनेन स्वीयानामेव कर्तव्यम् इति भावो ज्ञापितः।।४।।

इति श्रीगोकुलाधीशमुखच्च्युतम्।
स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम्।।१।।
तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति।
तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयतां कृपयन्तु वै।।२।।
यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै।
मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मह्यं प्रसीदतु।।३।।
श्रीविट्ठलपदाम्भोजरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया।
स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकीनिर्णीतेयं यथामति।।४।।

इति श्रीव्रजवधूप्राणेशपादपद्मात्मकपुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्द
श्रीवल्लभाचार्योक्तचतुःश्लोकीविवृतिर्भावरसदीपिका
श्रीश्यामलतनुजव्रजराजकृता सम्पूर्णतामगात्।

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

चतुःश्लोकी।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता।

श्रीमद्वल्लभनाथचरणसरोरुहरेणुभ्यो नमो नमः।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्याङ्घ्रिपद्मरेणून्नत्वा भक्तितो यद्वचोर्थाः।
दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्तद्वाक्यार्थं तत्प्रसादाद्विवव्रे।।१।।
लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मार्थस्मरमुक्तयः।
स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः।।२।।
तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः।
भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः।।३।।
चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूपा मुक्तिर्भवेत् क्वचित्।
अतो निःसाधनानां यद्वृथा जन्म तदा भवेत्।।४।।
तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्यवह्निं स्ववाक्पतिम्।
चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभमिलातले।।५।।
तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिमार्गानुगामिनाम्।
स्वसिद्धान्तावबोधार्था चतुःश्लोकी निरूपिता।।६।।
यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्यकम्।
सत्वरं बुध्यते तस्या विवृतिः क्रियते मया।।७।।

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयज्ञापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं स्वधर्माचरणरूपं प्रथमं पुरुषार्थमनुष्टुप्छन्दसाहुः **सर्वदा सर्वभावेन इत्यादि।**

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।१।।

व्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सच्चिदानन्दो भजनीयः सेवनीय इति अर्थः। पुष्टिमार्गीयैरित्यध्याहार्यम्। तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मप्रकरणविवरणे ‘‘निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले। अतो वयं सुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत एव हि’’ इति उक्तेर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः। स एव निःसाधनैर्जीवैर्देवसृष्ट्युत्पन्नैःसेव्य इति भावः। अथ स तैः कथं

सेवनीय इति आहु: सर्वभावेनेति। सर्वैर्देहेन्द्रियप्राणान्त:करणादिभि: कृतो यो भाव: सर्वात्मभावस्तेन सेव्य:। एतदुक्तं भवति। **देहेन्द्रियप्राणान्त:करणस्त्रीपुत्रदनगृहादिकं** सर्वं भगवत एव न ममेत्येवम्भूतो यो भाव: स संसारनिवर्तक:, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति। एवं सति मुक्त एव भगवन्मयो भवति। तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां “गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते। यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थ: स्यात्तदैव हि”। तेन सर्वात्मभावोयमेव दैवजीवस्य मुख्यो धर्म: कर्तव्य इति अर्थ:। तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे “केवलेन हि भावेन गोप्यो गाव: खगा मृगा:। येन्ये मूढधियो नागा: सिद्धा मामीयुरञ्जसा”। नन्वयमपि सर्वथा धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय आहु: **नान्य: क्वापि कदाचनेति।** अन्योस्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिमार्गीयाद्विरुद्ध: पूजामार्गीयो यो धर्म: स न वैष्णवानां कार्यसाधक: किन्तु बाधक: विभूतिपर्यवसायित्वात्। क्वशब्देन देशकालयोरपि धर्मविपर्यासौ दृष्ट्वा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम्। कदाचनेतिशब्देन कालान्तरेप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इति भाव:। सर्वदेति सर्वकालं निरन्तरं भजनीय इति अर्थ:।।१।।

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिमार्गानुसारिधर्मं निरूप्यात: परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपन्ति इति आहुरेवम् इति।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभु: सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थे सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्य:। वैष्णवैरिति शेष:। हि इति निश्चितम्। **सतां** वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं **स्वयमेव** विनैव प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म। कुत: स **प्रभुरि**ति। यतोसौ **सर्वसमर्थ:** स्वतन्त्रश्च। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव। अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेतिभाव:। उक्तं च “भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा:। योसौ विश्वम्भरो देव: स किं भक्तानुपेक्ष्यत” इति। अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिकमनोरथानां भगवत: **स्वयमेव** कर्तव्यरूपेण हेतुना **निश्चिन्ततां व्रजेत्** प्राप्नुयात् इति अर्थ:। यथोक्तं दशमस्कन्धे “तथा न ते माधव तावका: क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदा:। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो” इति।।२।।

एवं भगवत्प्रमेयबलं वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकमर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यात: परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति **यत् इति।**

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

हे मनुज **यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना** सर्वात्मभावेन **श्रीगोकुलाधीशः** प्रभुः स्थापितस्तदा **ततः** श्रीगोकुलाधीशात्पूर्णपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्तानां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय। लौकिकैर्लौकिकसाधनसिद्धियुक्तैर्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं मुमुक्षूणां कामपूरकमपीदमेवेतिभावः। उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे ‘‘अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु। कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्’’। किञ्च। ‘‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवे’’ति। अर्थाद्भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदीयानां भगवत्स्वरूपसेवनपदिष्टं प्राचीनैर्भगवदीयैर्नारदाद्यैर्मुनिभिः। यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य सेवाफलं किमपरमन्यद्दृष्टिप्राप्तव्यं, न किमपरमन्यदपि इति सिद्धान्तः।।३।।

एवं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति अत इति।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः।।४।।

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः **श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति इति** समाप्तौ। यथा औषधसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौषधसेवनं पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वदत्रापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभृतो जीवस्यासुरादिसङ्गादासुरावेशसम्भावनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः। अतोत्रेदमौषधवत्सर्वथा न त्याज्यं भगवतः स्मरणं तथा भजनं च इति अर्थः। स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य। भजनं भगवत्सेवारूपं शरीराङ्गीकारज्ञापनार्थम्। यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भजनानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणाहुत्पन्नमस्ति तेनास्यैव रक्षार्थं निरूपितम्। भगवता दैवजीवोद्धारार्थं स्ववागीशरूपः प्रकटीकृतस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्मे **मतिरिति।** भगवदीयेषु स्वकृपाख्यापनार्थम् इति दिक्।।४।।

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका।
चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विवृता मया।।१।।

इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचितः
चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः।

श्रीकृष्णाय नमः।

चतुःश्लोकी।

विवृतिसमेता।

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा।।१।।

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणागतिं **निरूप्य शरणागतानां** स्वमार्गीयप्रमाणादीन धर्मादींश्चोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।१।।

सर्वदा सर्वस्मिन्काले। एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता। फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदनासम्भवात्। **सर्वभावेनेति।** सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः। ''तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका'' इति श्लोकोक्तवत्। ''तस्मात्सर्वात्मना नित्यम्'' इति नवरत्नवाक्याच्च। यद्वा, पतिपुत्रादिभावेन। व्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः। अत एवावश्यं सेवनीयः। स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य अयं मुख्यो धर्मः। अन्ये त्वेतदङ्गभूता इति एवकारः। धर्म इति ''पुष्टिमार्गे हरेर्हास्यं धर्म'' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः। विधिस्तु नारदीये ''प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेत्। यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः''। एतदेवोक्तं भक्तिहंसे ''स्त्रियाः स्वपतिभजनवत्'' इत्यादिना। हि इति युक्तोयमर्थः। **अन्यो** देवतान्तरभजनरूपो धर्मः, क्वापि कस्मिन्नपि देशे, **कदाचन** कस्मिन्नपि काले न भवति। एवकारस्तु अयोगव्यवच्छेदकः। अग्रिमे 'ब्रूहि' इतिपदादत्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति वाऽध्याहार्थम्।।१।। एवं व्रजाधिपतिभजनरूपं ''पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म'' इति वाक्योक्तं धर्मं साधारणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति **एवम् इति।**

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां पुसां, **स्मेति प्रसिद्धौ।** यत्कर्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं **प्रभु स्वयमेव करिष्यति। स्वकर्तव्यम् इति** पाठे स्वैः कर्तव्यम्। शेषं पूर्ववत्। भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रकारबोधनाय आहुः **प्रभुरिति।** प्रकर्षेण

भवति, स्वयमेव भक्ताभिलषितवस्तुरूपो भवति। यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्गृहयोर्ऋष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश। अत एव 'यद्यद्धिये'तिवाक्यम्। ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहु: **सर्वसमर्थ** इति। सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्मे''तिश्रुत्या वस्तुत: सर्वस्य भगवत्त्वात्। हि युक्तोयमर्थ:। तेन भगवत: सर्वसमर्थत्वेन **निश्चिन्ततां व्रजेत्प्राप्नुयात्।** विधौ लिङ्।।२।। एव''मर्थो हरिरेव हि'' ''प्रमेयं हरिरेवैक।।। प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यत् इति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि।
तत: किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम्। अत एव दिदृक्षा। श्रीयुक्तो श्रीगोकुलाधीश:। ''काम: स्त्रीषु प्रतिष्ठित'' इति वाक्यात्ताभिर्युक्त: कामरूप: **हृदि धृत:,** हृच्छय: कृत:। तत्रापि **सर्वात्मना** सर्वेन्द्रियै: ''एकादशेन्द्रियै: काम'' इति निबन्धवाक्यात्। यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इति उक्त्या साधनं निरूपितम्। ''कौण्डिन्यो गोपिका: प्रोक्त गुरव: साधनं च तत्'' इतिवाक्यात्। **तत:** साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात्। एतादृशं **किमपि न।** अस्ति चेद्ब्रूहि। **लौकिकै**रित्युद्यमादिभि:। **वैदिकैरिति** यज्ञादिभि: साधनैरपि।।३।। एवं हरेर्दिदृक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं **निरूपयन्त्यत** इति।

अत: सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयो:।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मति:।।४।।

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, **अत: सर्वात्मना देहेन्द्रियाणान्त:करणै: शश्वन्निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयो:** गवां कुलस्य ''कुल संस्त्याने बन्धुषु च'' इति धात्वर्थात्समूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य, **पादयो: स्मरणमा**ध्यानं **भजनं** सेवनं तनुजवित्तजमानसप्रकारै: परिचरणं न त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विधेयम्। चकार: अयोगव्यवच्छेदक:, अनुक्तश्रवणकीर्तनसमुच्चायकश्च। अपि: सम्भावनायाम्। त्यागसम्भावनैव नास्ति। इति एवं प्रकारिका **मम मति:।** मन्मते: पर्यवसानमत्रैव। इदमेव फलम्। मोक्षश्चायम्। ''मोक्ष: कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्'' इतिवाक्यात्। ''ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्'' इति वृत्रासुरोक्तेश्चेति दिक्।।४।।

एवं श्रीवल्लभाचार्या धर्मार्थेच्छाऽमृतान्निजान्।
लोके प्रदर्शयामासु: प्रमाणादींश्च यद्यश:[१]।।१।।
इति विवृति: समाप्ता।

---

१ एतावत्येवोपलब्धा।

श्रीकृष्णाय नम:।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नम:।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम:।

चतु:श्लोकी

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता।

श्रीहरिवागीशो विजयेततराम्।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जयुगलं मया।
क्रियते तच्चतु:श्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे।।१।।

अथ श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयाग्निस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणा: परमकारुणिका: स्वान्त:करणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्थान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन वाखिलस्वकीयनिरुपधिदु:खप्रहरणेच्छया स्वप्रकटितभक्तिमार्गे श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरुषार्थरूप इति तानुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैतद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" "धर्मेण पापमपनुदति" "धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति" इतिश्रुतिभिर्मर्यादायामपि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गतत्परमोत्कर्षत्वे किं वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायमतमपि सूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव तदर्थादित्रितयं सेत्स्यति इति न तदर्थं पृथगायास: कार्य इति मार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्तिमार्गीये वैलक्षण्यमतिसौख्यम् इति च ध्वनयन्तस्तच्चतुर्षु सर्वत्र प्रथमं धर्म एवोद्दिष्ट इति अत्रापि तावदादौ तमेव दृढयन्तो निरूपयन्ति **सर्वदेति।**

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन।।

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे **अन्त:करण** हे **भक्त** इति वा **सम्बोध्य सर्वदा** सर्वस्मिन्काले **सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीय** इति अन्वय:। भगवदीयेन त्वयेति शेष:। उपदेश्योद्देशाश्रवणतस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्यथोत्तरे 'ब्रूहि' इति पदं न सङ्घटेत। आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्त:। **सर्वभाव:** सर्वेषां भाव: पतिपुत्राधनादि **सर्वं** प्रभुरेवेति। अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेत्' इति अत्र तथैव गीतं "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे"ति। एतदर्थस्तु "तत्कस्यचित्प्रियो देह" इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्तं तद्वाक्याशयेन प्रभुचरणैस्तथैव निरणायि इति तत एव विभावनीय:। यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो

भगवत्सम्बन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थ:। अत एव वृत्रासुरेणापि तथा प्रार्थितं ''त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्'' इति। अथवा **सर्वभाव:** सर्वात्मभाव:, तेन तथेत्यर्थ:। आत्मपदमन्तरेण कथनं तु ''परोक्षप्रिया इव हि देवा:'' ''परोक्षं च मम प्रियम्'' इतिव्याहारत: परोक्षकथनाभिप्रायेण। स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया निरुपधिभगवत्प्रवृत्ति:। विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोस्मत्प्रभुचरणैरगुभाष्यतृतीयाध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीय:। तदधिकरणरूपास्तु व्रजे रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्भावाधिष्ठानान्वेषणप्रयास: **सर्वभावेनेत्यत्र** हि करणे तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु ''तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्''। तथा च सर्वात्मभावभजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तत्तु रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव। ''रसो वै स'' इति श्रुते:। मध्ये रमणमवान्तरव्यापार:। अत एवोक्तं फलप्रकरणारभ्ये तथैव प्रभुचरणोक्तिरुभयत्र। ''पञ्चधा रमणं मतं'' ''ततो रूपं प्रतिष्ठितम्''। ''हरिप्रियास्विति शेष'' इति। अत एतद्रमणस्य तज्जनकत्वम्। एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभावशङ्का निराकृता। करणं तु फलवन्न तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्वम् इति पूर्वपक्षिमन:कलिलतां व्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति। व्रजस्य ''अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे''तिवाक्यान्नि:साधनस्याधिप: प्रभू राजवन्नियामक:, ''अनन्यगोकुलस्वामिफलदाता फलात्मक''श्चात एव ''नि:साधनफलात्मायं प्रादुर्भूतो अस्ति गोकुल'' इति। श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरपि। स एव भजनीय: सेव्यो नान्यस्तदंश: कलादिर्वेत्यर्थ:। एवञ्च सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च। यथा चाखण्डभूमण्डलाखण्डलस्य हि हेममणिमाणिक्यमयरुचिरपात्राणि, कोशविशेषे सङ्ग्राह्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव। यतस्तस्यैव सर्वाधिकैश्वर्यत्वात्। तेषामपि तत्तज्जातीयेभ्यस्तथात्वात्तथात्रापि। न हि ततोपि जीवमात्रनियामको अपरो अस्ति येन सोपि नियम्य: स्यात्। अतो भक्तिमार्गे सकलसाधनमूर्धन्यमेव साधनं सकलफलमूर्द्धन्यमेव फलम् इति नानुपपत्ति: काचित्। किञ्च, प्रामाण्यापेक्षायामाप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम्। आप्तत्वं तु यथाभूतार्थोपदेशकर्तृत्वम्। प्रकृते तादृङ्महानुभावा: श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा। युक्तं चैतत्। न हि साक्षात्पुरुषोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दमयाग्निस्वरूपादितर: कश्चन तथाभवतितुमर्हतीत्यलं विशेषजल्पनेन। अत एवा''चार्यं मां विजानीयात्'' इति भगवदुक्तिरपि। वस्तुत: पुरुषोत्तमा एव श्रीमदाचार्या:, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्भक्त्युद्रेकदशायामेवानुभूतं भवति, अनुभूतं चासकृत्तादृशै:। अत एव वल्लभाष्टके ''अनुभवनिगमाद्युक्तमानै''रित्यत्र श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणायि। एवञ्च तादृगाचार्यवचनानि श्रुतिरूपाण्येव। ''नि:श्वसितमस्य वेदा'' इतिश्रुत्या भगवन्निश्वासरूपस्य तस्योक्तहेतोस्तत्रैव सम्भवान्न

तच्छङ्कागन्ध इति दिक्। प्रस्तुतं वदामः। व्रजपदं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकम् इति तत्रत्याः सर्व एव भूमियमुनापुलिनाद्रिनिकुञ्जगहरवृक्षलतापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगादयो लक्षिताः। अत एव “धन्येयमद्य धरणि” इति आदि भगवता गीतम्। किञ्चात्र भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमविधी तु न सम्भवस्तत्तल्लक्षणाभावात्। तथा हि नहीश्वरभजनमप्राप्तं, न वा तद्व्रजनं पाक्षिकम् इति नोभयलक्षणावसरः। अत “स्तत्र चान्यत्र च प्राप्त” इतिलक्षणः परिसङ्ख्याविधिरेवायं परिशेष्यात् इति सिद्धम्। एवं च तदकरणे अपराधरूपप्रत्यवायोपि सूचितः। यथा मर्यादायां तदकरणे प्रत्यवायस्तन्मार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिर्देशोल्लङ्घने अपराध एतन्मार्गीयफलाभावश्चेतिभावः। ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव “पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या” इति तार्किका इति चेत्, न। तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च। यद्वा, मास्त्वयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपद्धतौ विधेरनियामकत्वात्। वस्तुतस्तु आवश्यकार्थे अनीय ‘आवश्यकाधमर्ण्ययोः’ ‘कृत्याश्चे’त्यनुशासनात्। तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीगोकुलाधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः। अपरश्च, व्रजधातोर्गमनार्थकत्वेन व्रजति इति व्रज इतिव्युत्पत्त्या पचाद्यच्। भगवतस्तस्याधिपत्येन सोपि व्यापिवैकुण्ठात्मक इत्यसूचि। तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदाविर्भावयोग्यतायां तदिच्छया ततः पूर्वमेव तदाविर्भाव इति उक्तं भवति। अन्यथा तस्य तदधिष्ठानता न स्यात्। न वा भगवतः साधारणवद्यत्र कुत्रचित्तमन्तरेणाविर्भावः। इतरथा निखिलजीवनियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तदाधिपत्यमात्रकथनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापकर्षाधायकश्च भवेत्। न चेन्द्रादिलोकवत्तस्योत्कर्षः कुत्रचित्पुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादृस्यापि तादृङ्माहात्म्यं, यतस्तथात्वं वदेयुः। कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूलोक एव न स्वर्गादिषु, क्वचिच्छ्रूयतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तदर्वाक्। तादृगपि न सर्वजनावच्छेदेन किन्तु केषाञ्चिदेव भूरिभाग्यभाजां तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि ततो भगवतः। किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव। अत एव क्वचित्सुराणामपि तन्नावबोधः। अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रक्षिप्ताध्यायत्रयकथा। तत्रैव श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे पुरन्दरगर्वश्च। सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यथा। नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम्। परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव। यतस्तत्स्वरूपज्ञानं, तत्रापि गर्भ एव ज्ञानदेव तादृक्तन्माहात्म्यावबोधनं, ब्रह्मणो भगवदवतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावबोधात्। अत एव जन्मप्रकरणीयप्रथमाध्याये राजप्रश्नाभिनन्दनानन्तरं “भूमिर्दृप्तनृपव्याजे”त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम्। न चैवं वत्सचारणचरित्रे तस्य तद्धरणमशक्यवचनं स्यात्तन्मोहासम्भवादिहासम्भवात्

इति वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रभुचरणैस्तामस प्रकरणीयप्रमाणप्रकरणचरमाध्याय समाप्त्यनन्तरमेव “कथामात्रं हरेर्वाच्यम्” इति आदिना समाहितं। श्रीविट्ठलचरणैरपि तदर्थविवरणे विविच्य निरणायि इति नात्रानुद्यते विस्तरभीतित इति नात्र पूर्वपक्षावसरः। अतो व्यापिवैकुण्ठात्मको व्रज इति व्रजाधिपतत्पदेन ध्वनितम्। अत एवाथर्वणे कृष्णोपनिषदि “वैकुण्ठं गोकुलवनं तापसास्तत्र ते द्रुमाः”। तैत्तिरीयश्रुतावपि “ते ते धामान्युष्मसि गमध्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः”। “विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा। तद्विष्णोः परं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्” इति। एतदर्थः। प्रपञ्चितः श्रीविट्ठलवरैर्विद्वदाभरण इति नास्माभिरत्र विस्तरणीयस्तथापि तदध्ययनमादुनिकानां सर्वेषां दुर्घटम् इति तत एव तमेवार्थमलपतो अनुब्रूमः। तथा हि हे भगवन् ते तव ते तानि “सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम्” इति अनुशासनाल्लिङ्गव्यत्ययः। धामानि क्रीडास्थानानि। गमध्यै प्राप्तुं। उष्मसि कामयामहे। तानि कानि इति आकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति श्रुतिः। यत्र श्रीगोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावो वसन्ति इति शेषः। अथवा आरण्यग्राम्यपशूपलक्षणार्थम्। भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगा गावश्च तथा। कीदृशाः? अयासः शुभाः शोभावहाः शोभाधायका इति यावत्। तस्येति शेषः। अत्र स्थाने भूमौ। तथापि स्वस्य तादृग्भाग्याभावाद्दृग्गोचरो न भवति इति खेदेनाह इति आह श्रुतिः। तल्लोकवेदप्रसिद्धम्। उरुगायस्योरुकीर्तेर्भगवतो, विष्णोर्व्यापकस्य। अत एव भूरेर्बहुरूपस्य, रासोत्सवादौ तथा प्राकट्यात्। तच्छ्रीगोकुलं परमं पदं, स्थानं वैकुण्ठं पदं, तस्मादप्यधिकं परमं पदं, प्रकृतिप्रियत्वेनापि परमं तादृशं पदभवभाति प्रकाशते”। अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः ‘अवभाति’ इति वदन्ती स्वभावविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्यत्वमेव ब्रूते। अन्येषामनवभानपक्षेपि वर्तमानप्रयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेवायाति इति भावः। एतदनन्तरमेव च “विष्णोः कर्माणि” इति पठ्यते। तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे “यत्र भूरिशृङ्गाअयासस्तत्तस्य परमं पदम्” इति उक्त्वा, तत्र तदनन्तरं कृतानि विष्णोः कर्माणि यशोदास्तनपानपूतनासुपयःपानरिङ्गणादीनि पश्यत, यूयम् इति शेषः। यतः कर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि सान्निध्याद्विष्णुरेव पस्पशे स्पृष्टवान्। अयं भावः। तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीष्वाविर्भूय तासु सर्वां लीलां कृतवान् इति। “स्पश बाधनस्पर्शयो”रिति धातोर्लिटि रूपम्। यद्वा, अयं धातुरुभयार्थकस्तेन व्रतानि लोकमर्यादाव्रतानि पातिव्रत्यादीनि बबाधे। अयमप्यर्थः। वेदमर्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरिहाराय ‘यत’ इति अव्ययप्रयोगः। तथा चैतत्कर्मणामविकृतत्वमुक्तम्। किञ्च, स्वव्रतानि आत्मारामत्वपूर्णकामत्वादिनियमरूपाणि बबाधे। अस्मिन्नर्थे नञ्प्रश्लोषेऽव्रतानि स्पृष्टवानित्यप्यर्थो युज्यते तदा, तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यतत्युपदेशः। अत्र कश्चनार्थविशेषस्तत्रैवोपपादित इति तत एव परिभावनीयो, विस्तरभयतो नात्र

वितन्यते। इन्द्रस्य युज्यो योज्योनुकूल: सखा। अयमाशय:। प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते बहुबलाहकासाधारणवर्षेणेन्द्रेण तद्रोहे कृतेपि सर्वसमर्थोपित द्धेतुकतन्मदमेव दूरीकृतवान्, न तु तं तदधिकारं वेति तथा। तदनन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तत्समानधर्मैस्तथा। एवं निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णो: लीलास्थानं परमं पदं सूरयो विद्वांस:, तत्त्वं च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपवित्त्वम्। तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्त:, 'भक्त्यामामभिजानाति' "भक्त्याहमेकया ग्राह्य" इति आदिवाक्यै: सूरयो भक्ता एव। न"न्वत्राह तदुरुगायस्ये"ति "सूरय: सदा पश्यन्ति" इति वाक्यैकवाक्यतायां भूमौ तत्परमं पदं भक्ता एव सदा पश्यन्ति इति अर्थो अवसीयते, एवञ्च काननकालिन्दीतत्पुलिन गिरिवरगह्वराद्यात्मकत्वेनोद्भूतरूपवन्महच्च। तदेव हि द्रव्यं यच्चाक्षुषं, यन्महत्वे सति उद्भूतरूपवत् इति तर्कोक्ति:। तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरम् इति आशङ्कायां दृष्टान्तम् आह दिवीव चक्षुराततम्। दिवि स्वर्गे यथा आ समन्तात् ततं व्याप्तं "यन्न दु:खेन सम्भिन्नम्" इतिवाक्यात्सुखैकसाधनतद्रूपं तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षु: पश्यति नान्येषाम्, तथैवल्लीलामध्यवर्त्तिनामेव तद्दृश्यम् इति अर्थ:। शाखान्तरेपि, "ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास:। अत्राह तदुगुगायस्य वृष्ण: परमं पदमवभाति भूरि"। अर्थस्तु, ता तानि, वां युवयो: कृष्णरामयो: गोपीमाधवयो:, वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गमध्यै प्राप्तुं "तुमर्थे से स" इति अनुशासनादेवत् साधु। वृष्ण: कामान् वर्षति इति वृषा, तस्य। गोपिकासु कामवर्षस्य। भूरि बहुरूपं, पदविशेषणम्। अग्रिमार्थस्तूक्त एव। परमदा"दधिकं तत्रानुप्रविष्टम् इतिन्यायो ध्वनित: अन्यथा तत्पदम् इति एव श्रुतिर्वदेत्। एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत उत्कृष्टत्वं "गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री"रितिवाक्यात्। अत एव "स्वानन्दानुभवार्थम्" इति अस्य विवरणे श्रीविट्ठलवरै"स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकस्ये"त्यादि व्याख्यानं कृतम्। तथा च प्रसिद्धतदपेक्षया प्रभो रतिप्रीतिसाधकत्वेनानिर्वचनीयच्छविविधायकत्वेन च तस्य तथात्वम् इति भाव:। "न स्त्रियो व्रजसुन्दर्य" इत्यादि तत्रत्यबृहद्वामनपुराणीयकथाप्युक्तार्थे अनुसन्धेयेत्यलं विस्तरेण। प्रस्तुतमनुसराम:। एतादृशस्याधिपो भजनीय: सेव्य इति अर्थ:। सेवा हि सेवकस्यैव धर्म:। 'भज' धातो: स एवार्थो निरूढ:। तथा चाशेषजीवानां सहजदासत्वमसूचि। तदकरणे तद्दण्डयोग्याश्च त इत्यपि। उक्तमेवोद्घाटयन्ति स्वस्येति। स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनाख्य एव धर्मो न तु मार्यादिक: स इतिभाव:। एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मातिरिक्तधर्ममात्रव्यच्छेदक:। अथवा स्वस्यैवायं धर्मो नेतरेषाम्। तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिता:। ततो गोपनमप्यसूचि। अत एव "न बुद्धिभेदं जनयेत्", "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये"त्यादि भगवद्भाषितम्। एतदर्थमेव शङ्करप्रभृतीनामुद्भव:। यद्वा, अयं धर्म एव भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादित्रितयसिद्धे:। अथवा अयं धर्म एव

स्वस्य तथा न ज्ञानादय:। ‘‘तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये’’तिवाक्यत:। हिशब्द: कैमुतिकन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति। भगवता गीतायां ‘‘सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच’’ इति ‘‘सर्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकमतो अयमुक्तमार्गो मार्यादिक एव स इति एवं निश्चीयते। इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव फलत्वेन नोक्तं स्यात्। एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गीयोपि शरणमार्ग: साधीयांस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गोक्तप्रकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दविरचितपद्धत्या, सुतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्ण: सदानन्द: फलात्मकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोत्कृष्टपरमफलं स्वरूपानन्दात्मकम् इति किं वाच्यम् इति। अत: सर्वात्मना अन्यं निराकुर्वन्ति नान्य: क्वापि कदाचनेति। अन्य: प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवति इति अर्थ:। मार्यादिकत्वाद्भगवदीयैर्न कार्य इति भाव:। क्वापि इति देशाश्रमापरिच्छेद उक्त:। कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च। उक्तप्रकारेण दासैस्तद्दास्यमेव विधेयम् इति भाव:। अत एव ‘‘भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म’’ इति तन्मार्गमर्मज्ञैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम्। अत एव वृत्रासुरेणापि दृष्टपुष्टिफलेन ‘‘अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूय’’ इति प्रभुं प्रति तदेव प्रार्थितं नेतरम्। प्रभुसाक्षात्कारे साक्षात्तत्प्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम्। एतेन स्वस्य दीनभावो दर्शित:। प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव ‘‘भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्’’ इति भाषितं प्रभुचरणै:।।१।।

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यैवार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवम् इति।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभु: सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

एवं सति उक्तप्रकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति। **स्वकर्तव्यं** स्वामिकार्यं यत्तत्**स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु** तदंशावतारादि। अत: प्रभो: स्वातन्त्यमप्यसूचि। न जीववत्केवलं पारतन्त्यमेव। ‘‘अहं भक्तपराधीन’’ इति आदिवाक्यै: कालादिनियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा। अत एव ‘‘ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे’’ति वद्वाक्ये इवशब्द:। अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयतैव भगवता तथोक्तम् इति अवसीयते। भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्तथा, अत एव दामोदरलीलापि। ‘‘यस्य च भावेन भावलक्षणम्’’ इति अनुशासनात्सति इति सप्तमी। तत: स्नेहेनावच्छेदतो दास्यकरणे अव्यभिचारि

नित्यं स्वामिकर्तव्यम् इति च ध्वनितम्। नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयम् इति अव्ययोक्तेश्च प्रभुकृतेर्वास्तवत्वमानन्ददायकत्वम विकारित्वं च। अन्यथैवं कृते कृत्येति वा ब्रूयुः। स्वकृतीरिति च। ननु श्रीमदस्मदाचार्यवर्यचरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवकैर्वाङ्मधुद्रवास्वादितस्वान्तैस्तद्विश्वासेन तत एव ‘किमलभ्यम्’’ इति आदिवाक्यार्थानुसन्धानतः प्रार्थनमन्तरेण भजनोपयोगिनिखिलपदार्थसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाग्यसञ्जयमिव तद्भजनं कर्त्तव्यमेव, परन्त्वाधुनिकानां तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदाचिदविश्वासेनोत्कृष्टसेवासाधनरूपतनुजवित्तजसेवासिद्ध्यर्थमर्थापेक्षायां तत्र प्रयत्ने कृते कदाचिद्बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, ‘त्रैवर्गिकायासे’तिवाक्यात्प्रभुकृतप्रतिबन्धोपि सम्भवेत्। न च सेवार्थं यत्ने क्रियमाणे न भगवत्कृतप्रतिबन्धः, अत एव ‘त्रैवर्गिके’तिपदम्; मर्यादाप्रवाहसंवलितानामेव बाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्टावङ्गीकृतानाम् इति वाच्यं, नवरत्ने ‘कापि’ इतिपदव्याख्याने अस्मत्प्रभुचरणैरेवैतदुत्तरितत्वात्। अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वकरणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तत्सेवायामेव को विशेषो अन्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात्। तस्याक्लिष्टकर्मत्वं च भज्येत। बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम्। स्वामिकृतप्रतिबन्धस्याप्यतिबलिष्ठत्वतः स्वकृतोपि प्रयत्नोपि व्यर्थः स्यात्। वस्तुतस्तु अस्मिन्फलमार्गीयभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः। अत एवात्रैव ग्रन्थे अस्मत्प्रभुभाषणसुधाधारा, “स्वस्यायमेव धर्मो हि” इति। इतोऽपि स न कार्य एव इति उक्तं भवति। “योगक्षेमं वहाम्यहम्” इतिवाक्यं च व्याकुप्येत। “तुष्यतु दुर्जन” इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक एव स तथा“प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः”। अत्रायमभिसन्धिः, परमकारुण्यैकसिन्धुः श्रीगोकुलजनैकजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यायासमसहमान एव सर्वकरणसमर्थस्तत्प्रयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्विश्वासदार्ढ्याय नान्यथा। तथा च यत्र मर्यादाप्रवाहसंवलितानामपि भक्तानां यत्नक्लेशासहिष्णुः करुणाकोमलो हरिस्तत्र पुष्टावेवाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसहिष्णुः श्रीमद्गोकुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्यमत एव “किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकतने” इति वचनामृतं च। “भगवदर्थापि सा न कार्ये”त्युक्तं नवरत्ने अस्मत्प्रभुचरणैरत एव। किञ्च, व्रजरत्नानामपि निजनाथनिदेशतोपि न निजव्रजगृहगमनमपि। यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतरेषां वाहिर्मुख्यादौ का वार्ता। अत एव तामसप्रकरणीयफलप्रकारणे ‘यर्ह्यम्बुजाक्षे’ति श्लोके व्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति वयमञ्जसा अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयामः। विवृतं चैतदस्मत्प्रभुचरणै“र्यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्सन्निधौ स्थातुं न शक्नोति” इति। एवं च सर्वथोक्तदोषसम्भवभयतो न प्रयत्नं कुर्यात्। अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपलब्धिस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे

स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशे घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तो वृत्त इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति स्वयमेवेति। स्वयं प्रभुरेव सर्वं करिष्यति। स्वाश्रितजनयत्नमन्तरेणापि भजनापेक्षितसकलपदार्थान्सम्पादयिष्यति इति अर्थः। सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थार्थित्वेनेतरतो अर्थार्थनेन मनो व्याकुलं न विधेयम्। अत्रायमाशयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुकूलनिखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतो अधिकं फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः कालादिनियामको भगवान्पूर्णानन्दो हरिः परमकृपालुर्यतो यत्किञ्चिदपि स्वकीयपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कुतो न विदध्यात्। अन्यथा ‘‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’’ इति दृढप्रतिज्ञां न वदेदेव प्रभुरकुतोभयः। अप्राप्तस्य प्रापणं योगः। प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः। यद्वा, स्वयमेव स्वत एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः। एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः। अत एव ‘‘निजेच्छातः करिष्यति’’ इति नवरत्ने अस्मत्प्रभुचरणैगीतं, ‘‘प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्’’ इति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च। यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रेरणया देवतान्तरद्वारा वा। कालादिदेवतान्तरप्रेरकोऽपि हरिरेवेति भावः। अस्मिन्नर्थे अत्रायोगव्यवच्छेदक एवकारः। अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन्न तत्प्रार्थनावासनां समीक्षते। अन्यथा ‘‘यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्’’, ‘‘आशासानो न वै भृत्य’’ इति आदिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वामित्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः। एतेन प्रभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि। अत एव ‘‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’’ इतिवाक्यम्। यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्वयेनात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतो अस्मिन्मार्गे तदभाव एव परमबाधकः। अत एव विश्वासतदभावयो‘‘र्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्या’’विति तयोरनुसन्धानं तत्रैवोक्तम्। ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव। अत एव ‘‘ये यथा मां प्रपद्यन्त’’ इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम्। परं तत्रेदमवधेयम् यस्य येन प्रकारेण प्रपत्तिस्तस्मै तत्प्रकारेण प्रयच्छति इति प्रभुः ‘‘तांस्तथैव भजाम्यहम्’’ इतिवाक्यत एवमेव। एवञ्च, यत्र मर्यादामार्गोक्तरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं प्रावाहिकेभ्यः प्रावाहिकरीत्या पुष्टौ तद्रीत्या तथेति विवेकः। इतरथा ‘‘यथा तथे’’तिपदे न वेदत्। ये जना मां प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हि इति उक्तेपि चारितार्थ्यं स्यात्। उक्तार्थे यथाशब्द इति अत्र ‘‘प्रकारवचने थालि’’तिपाणिन्यनुशासनं जागरुकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाशब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः। तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपद्धत्यनुसारेणेति तथैव

फलदानम् इति दिक्। इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवान्यथासाधनं फलं ददाति इति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः। अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे “गोपायेत्स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित” इति श्रीमद्गोकुलनाथोक्तिः। अन्यथा व्रजजनस्वरूपानन्ददानं च सुतरामशक्यवचनं स्यात्। न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वोर्द्धेन ‘तस्मान्मच्छरणम्’ इति आदिनोक्तमेव वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्ति इति वाच्यं, ‘निस्साधनफलात्मायम्’ इति प्रभुवाक्यविरोधापत्तेः। यदि ग्रहिलतया तद्वाच्यं तथापि प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम्। किञ्च, कदाचित्केषाञ्चित्सम्भवेपि तत्रप्योपरिभागस्थशुकमयूरमृगादीनां सुतरां तदसम्भवः। वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि तद्गन्धसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत्। अत एव श्रीमद्गोकुलस्वामिना महता यत्नेनापीन्द्रबलिभागो निवारितः। अत एवा‘न्ह्यापृतम्’ इतिवाक्यं च। न च जन्मान्तरीयं तदस्ति इति चेत्, न। तथाकल्पने मानाभावात्। न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तत् सति चेन्न। उक्तोक्त्युच्छेदापत्तिः। ननु क्वचित्तादृगुक्तिरपि स्यात् इति चेत् न। “अस्ति चेदुपलभ्येते”तिन्यायो व्याकुप्येत्, प्रत्युत भगवतैव सर्वं सम्पादितम् इति उक्तिर्लभ्यतेपि। अत एव “प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि”रितिवाक्यम् इति चेत् समः समाधिः, “अहो अमीषां किमकारि शोभनम्”इतिवाक्यात्। अत्र ब्रूमः। यद्यप्येतद्वचनमपि कोटिद्वयाववोधमवगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक‘मन्ह्यापृतं’, “निःसाधनफलात्मायम्” इतिवाक्यं न तथा पूर्वदल इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणायि, न व्रजवासिनामतो मर्यादायां तत्साधनैरेव फलं यतस्तद्रक्षकोपि प्रभुरेव। पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति कृतं वाचां विलासैः। इदानीमुक्तार्थमेवोद्घाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति। प्रभुः सर्वनियामकः। “अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्” इति वाक्यातः। अत एव समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम्। सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः। कालसाध्यपदार्थस्यापि स्वयमेव साधकः। यद्वा, सर्वेष्वाश्रमेषु देशेषु वाहोस्विद्वर्णेषु तथा कालत्रितयेषु वर्णाश्रमादिषु तथा। देशादिषट्साधनापेक्षः। यद्वा, सर्वस्मिन्साधनविषये तथा। तत्तत्साधननिरपेक्षः। यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः। कालादयोपि तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नकर्तारः। अथवा सर्वेषु दैवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा। स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः सिद्धत्वात्। यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतकर्मत्वात्। अत एव तत्वार्थदीपे “असाधनमपि साधनं करोति” इति अस्मत्प्रभुचरणोक्तिः। हिशब्दोपि समर्थमनुमोदते। तथा हि यत्र मर्यादामार्गीयसाधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजामिलादिभ्यः स्वांशकलाद्यवतारः परम्परासम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवलस्वपुत्रनाममात्रकल्पनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावना अभावेपि

तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं तादृक्फलदानं तत्र साक्षात्फलात्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिमार्गीयस्वमुखारविन्दरूपाचार्योपदेश पूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं-किं न विधास्यति इति निखिलमनिर्वचनीयम्। य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां व्रजेत्प्राप्नुयात्। अत्रायं भावः। पूर्वं श्रीमदाचार्योपदेशमात्रेण तद्विश्वासोद्रेकेण भजन् पश्चात्तस्मिंस्तदुद्रेकेण स्निग्धः सन् तथा स्यात् इति अर्थः। इदं भजनमेव सर्वस्वम् इति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स तथात्वं प्राप्नुयात् इति भावः। तथा चैतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्थोपि सोपपत्तिको निरूपितः। तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलै“र्थो हरिरेव हि” इति।।२।।

एवं मार्यादिकौ तौ निराकृतौ तथा कृते अप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यम् इत्यतः कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षत्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवाप्रयोजकम् इति तृतीयमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यत् इति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरैर्ब्रूहि[1] लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

यदि चेद्गोकुलाधीशो यशोदोत्सङ्गलालितो अनन्यगोकुलस्वामी। श्रीपदोक्त्यातादृगन्तरङ्गभक्तसहितः। यद्वा, “श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि” इतिवाक्यतः श्रीयुक्तं यद्गोकुलं, तस्य तथा। पूर्वोक्तवाक्यतः सर्वोत्कृष्टशोभायुक्तं यत्तत्स्य तथा। तादृशोपि सर्वात्मनोक्तभावेन धृतः भवता त्वया वेति शेषः। धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेकपरता ध्वनिता। विशेषतश्चेतस्तत्प्रवणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्ध्येव। अतः फलप्रकरणे अस्मत्प्रभुचरणैर्गीतं “सो अन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्त” इति। आश्रयान्तरं परित्यज्य केवलतदेकनिष्ठो जात इति यावत्। तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छैर्लौकिकैर्वैदिकैरपि किं? न किमपि इति अर्थः। अयमर्थः। लौकिकैर्लोके परमोत्कर्षप्रापकैस्तामसराजससात्त्विकैः। बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय। वैदिकैस्त्रिविधगुणरूपैर्ब्रह्मलोकयोगसिद्धिमोक्षैः। बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण। चतुर्विधर्मोक्षज्ञानादिसूचनायापिशब्दः। उभयविधैस्तैर्ज्ञानादिभिश्च कृत्वा किं? न किमपि इति अर्थः। अपरम् इति पाठे उक्तैस्तैः कृत्वा अपरमुत्कृष्टं वस्तु किमप्यस्ति। न किमपि इति अर्थः। यद्वा, अपरैर्देवतान्तरैः किं? सर्वेषां तद्विभूतिरूपत्वात्। अत एवोक्तमस्मत्प्रभुचरणैस्तत्त्वदीपे “कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते”। “कृष्णात्परं नास्ति दैवम्” इति अन्तःकरणप्रबोधे च। अत्रायमभिसन्धिः। रसातलादिषु भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिक्यं, तदपि वामनावतारेणैवोद्धृतमतः प्रभोरनपायिन्याः श्रियः सकाशादपि तदप्रयोजकम्। एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यशस्करं, तच्च यज्ञदानादिसापेक्षमत

---

[1] ‘अपरम्’इत्यपि पाठष्टीकाकारैर्विवृतः।

औपाधिकं सावधि च। न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, ‘‘राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्’’ इति वाक्यात्। अतो भगवदनवद्ययशसस्सकाशात्तत्तथा। एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परिणामापायि। भगवदखण्डितैश्वर्यात्तत्तथा। एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिकमपि निराकुर्वन्ति। अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगबलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तदनुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्ति इति भगवज्ज्ञानापेक्षया तदज्ञानमपि तथा। भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वात्। ब्रह्मणो रजोवतारत्वात्तल्लोकोऽपि राजसः, तत्र हि ‘‘ब्रह्मणा सह मुच्यन्त’’ इति वाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्यतो भोगफलयोः सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः। भगवद्वीर्यापेक्षातस्तौ तथा। ‘‘तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यते अयनाये’’त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तच्च ‘‘सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्’’ इतिवाक्यतस्तज्जन्यं तदपि सात्त्विकमेव भवितुमर्हति इति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा। सोऽपि गणितानन्दात्मको अतः पूर्णानन्दप्रभ्वपेक्षया सोऽत्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति वैदिकमपि तत्तथाकृतम्। किञ्च, मार्यादिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावाल्लोकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववत् इति भगवद्धर्मरूपतत्षड्गुणत। षड्विधास्ते अकिञ्चित्करा यत्र-तत्र किं वाच्यमन्तरङ्गधर्मिरूपतद्गुणतस्तथात्वम् इति कैमुतिकन्यायोपि ध्वनितः। किञ्च, ‘‘अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’’ इति श्रुत्युक्तेर्भगवदानन्दलेशस्तदतिरिक्तसकलार्थेषु निर्णीतः। तर्हि विषयानन्दनिमित्तमात्रपुत्रार्थादिरूपं तदानन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्तथे‘‘त्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि’’रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्वाश्रितभिमुखं विधाय प्रावोचन्-ब्रूहि त्वमेव वद। अत्र ब्रूहिपदतो अस्मदाचार्यवर्यकृपाप्राचुर्यतस्तत्कालावच्छेदेन तस्य स्वरूपानन्दानुभव इति अध्यवसीयते। इतरथा ब्रूहि इति प्रश्नः कथमपि न सङ्घटेतैवेति पूर्वमेवावोचाम। न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनुभवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च। अत एवास्मत्प्रभुचरणै‘‘स्तत्सार

भूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह’’ इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्स्वामिनाम गीतम्। एवञ्च भक्तोपदेशपक्ष एव साधीयान्नान्तःकरणोपदेशपक्षः[१] फलप्रकरणे ‘‘ब्रूहित किं करवाणि व’’ इतिवत्। अन्यथा स्वमनोवबोधे यथा ‘‘किं स्यात् इति विचारये’’ति तत्प्रत्यवदंस्तथात्रापि तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृग्गवेषणीय एवेति यदि इति पदं भाषितमस्मत्सौभाग्यसुभगभूषणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक्। अत्रायं निगूढाशयः। पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभं, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम्। क्व योगिध्येयो भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, क्व सकलदोषात्मको

---

[१] उपदेशज इत्यपि पाठः।

दु:खैकसदनरूप आनन्दशून्यो जीव:। अत एव सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यन्यथाकृतौ श्रीविट्ठलवरोक्तिसुधासारो ‘‘ब्रह्मस्तुत्यादिदुरापचरणरेणुरीश्वर: क्वाहं तुच्छो जीव’’ इति। ततोपि गोकुलेशस्य यशोदोत्सङ्गलालितस्य श्रीगोकुलैकस्वामिन: पुरुषोत्तमस्य श्रीनन्दात्मजस्यात एव ‘‘पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव’’ इति अस्मत्प्रभुवाक्पीयूषं, तत्रापि श्रीगोकुलेशस्य परमसौन्दर्यसुन्दरस्य सुतरां ततोप्युक्तभावेन ततस्तरां तत्तथा। अत एव श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे ‘‘कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं प्रकटं करिष्यामि इति इच्छया प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण’’ इति श्रीमदाचार्यमधुरं वच:। ‘‘भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्सुदुर्लभ’’ इति च। इति च प्रस्तुतासम्भावनायां, कदाचित्कस्यचिद्दैवजीवस्य देहस्य च प्रभुचरतभाग्योदयेन ‘‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्य’’ इति श्रुतित: स्वमुखारविन्दनिष्ठसुधासाररूपाचार्यचरणापारकरुणया तदनुग्रहतस्तदुरीकारेण तादृग्भजनतस्तदुद्रेकदशायां श्रीनन्दराजकुमारसुकुमारनिजचरणकुवलययुगतरलतरलितपरागसंवलितमनो मधुलिह एव तल्लेह्यम् इति निगर्व:। एतेनैतादृग्भजनाधिकारी चैतत्कालावच्छेदेन दुर्लभ इति सूचितम्। तथा चैतन्निरूपणेनैतन्मार्गीयदिदृक्षालक्षणतृतीयपुरुषार्थोपि निरूपितोप्यभूत्। न हि तादृक्स्वरूपानन्दानुभवोत्तरं कस्यचिदपि लोकोत्तरपरमानन्दरूपस्य पुनर्दिदृक्षा असम्भव:, प्रत्युत क्षणमपि तद्दर्शनमन्तरेण स्वरूपानन्दसुधापानपरैस्ततोन्यत्र स्थातुमशक्यं, किं पुनर्वाच्यं दिदृक्षामृते तथात्वं तथेति। अत्रोदाहरणानि व्रजजनरत्नान्येवानुसन्धेयानि। अत एव फलप्रकरणे ‘यर्ह्यम्बुजाक्षे’त्यादि तैरेव गीतम्। ‘‘क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्’’ इतिवाक्यतस्तासां तद्वियोगकालीनं क्षणमपि सोढुं तावत्परिमाणकम् इति पूर्वोक्तमखिलं कमनीयम्।।३।।

एवं तृतीयं तं निरूप्य तुर्यं तथा निरूपयन्ति **अत** इति।

अत: सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयो:।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मति:।।४।।

अत्रायमाशय:। व्रजजनवृन्दवाञ्छाकल्पतरुशील: श्रीगोकुलाधिपतिरदेयस्वस्वरूपानन्ददानक्षमोपि प्रभु‘‘र्मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु’’रितिवाक्यत: पुष्टिश्रुतिरूपभक्तवाङ्मनोगोचरातीतपरमानन्ददायको यत:, अत: कारणाद्धेतोर्वा सर्वात्मनोक्तभावेन शश्वन्नैरन्तर्येण गोकुलेश्वरपादयोरनन्यगोकुलस्वामिन: पुरुषोत्तमस्य भक्तिरूपचरणसरसिजयो: स्मरणं भजनं सेवनं, स्मरणं नामानुभवजनकसंस्कारावबोधरूपम् इति तु तार्किका:। भगवन्मते त्वनुभवजन्यमेव स्मरणम् इति राद्धान्त:। एतस्फुटीकृतं ‘‘सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपि’’ इति अत्र सुबोधिन्याशयविशदीकरणे भगवद्गूढाशयज्ञैरित्यलं बहुना। चकारात्तद्रजोभिलषणमपि न त्याज्यम्। भक्तैरिति शेष:। यत्र वक्ष:स्थलस्थिताया

अपि श्रियो यदभिलाषा, तत्रेतरेषां तथात्वे किं वाच्यम्। फलयोः सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः। साक्षाच्छ्री गोकुलाधिपतिभजनोपयोगिभगवदीयदेहसम्पादकत्वात्तस्येति भावः। अत एव तच्चरणकमलरजसो दुर्लभत्वं सूचितं फलप्रकरणे तदभिज्ञैः ‘श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे’ इति। तयोस्तथात्वोक्त्या दीनभावत्वेनैव ते कार्ये इत्यसूचि। यथा भगवतो ब्रह्मत्वमानन्दरूपत्वं च तथा तयोरपि इति च। अत एव समासोक्तिरपि। अन्यथा गोकुलेशस्येत्येवोक्तं स्यात्। अत एवा“नन्दं ब्रह्मणो रूपम्” “आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः” “आनन्दमयोभ्यासात्” इति श्रुतिस्मृतिबादरायणाधिकरणानुशासनैर्भगवतो देहेन्द्रियादि निखिलमानन्दमात्रं, न तु लौकिकशरीरवत्कश्चन भेदोऽपीत्येव निरणायि। द्विवचनोक्तयोभयत्र समदृष्ट्या तत्करणे सूचिते न तु वामदक्षिणयोस्तारतम्यमपि लौकिकयोरिव तयोः परिभावनीयम् इति भावः। अनेनापि मर्यादातो भगवन्मार्गोत्कर्षो महानेव ध्वनितः। ननु स्मरणभजने स्वरूपानन्दानुभवानन्तरमेव सम्भवेतां न तु तदर्वाग् इति चेदत्रैतत्तात्पर्यमवधेयं प्रज्ञाविशेषभावनाचतुरैः। उपक्रमोपसंहारयोः केवलं प्रभुमात्रोद्देशतोन्तरङ्गभक्तसहितस्य तथात्वेनोक्तप्रकारेण भजंस्तदुत्कर्षदशायां परमकरुणाकरः प्रभुः प्रसन्नः सन्मदीयं परमसौन्दर्यं पश्यतु इति इच्छया मध्ये भजनान्दानुभवं तस्य कारयतीत्यध्यवसीयत इति तदनुभवस्यापि सिद्धत्वेनोक्तोभयमपि युक्तमेवेति न पूर्वपक्षिपक्षपातावसर इति। किञ्च, स्मरणं मनोधर्मः, भजनं मानसं कायिकं च। अत एव “चेतस्तत्प्रवणं सेवा मानसी सा परा मते”ति मुक्तावल्याम्। सैव प्रेमलक्षणा भक्तिः स्वतन्त्रैव, अत एव “भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये”त्युक्तिः। शाण्डिल्यैरप्येतदेवासूचि “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति। मानसं च तत्प्रभ्वनुग्रहैकसाध्यं न तु ततो अन्यसाधनसाध्यं, तत्त्वं तु स्वरूपानन्दानुभवभावात्मकमत एव “भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यत” इति श्रीवैश्वानरचरणैः। न च ‘भावनये’ति तृतीयान्तेनैव साधनमतः “साधनं नान्यदिष्यते” इति साधनान्तरनिषेधः, इतरथा साधनम् इतिपदं न वदेयुरेवेति चेत्, सत्यं, तथापि तस्यापि हेतोरवश्यवाच्यत्वेन तदनुग्रह एव तादृग्वाच्यः। तथा तदनुग्रह एव तदास्तां, कृतं तयेति चेदिष्टापत्तिरत एवास्मत्प्रभुचरणैर्गीतं “अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः”। इतिस्थितिर्नाम भक्तिमार्गीया मर्यादा। तेन भक्तिमार्गे साधनरूपः फलरूपश्च पुरुषोत्तम एव, न तु मार्गान्तरवत्तयोर्भेद इति निरूपितम्। किञ्च, स्मरणं मनोधर्मस्तेन मनसा स्मरणपूर्वकं भजनं कार्यं, न तु बाह्यतः कायिकमात्रं तत् इति अर्थः। एतेन वाचनिकमपि तन्नामसङ्कीर्तनादिरूपमाक्षिप्तं, यतो वाचः पूर्वरूपं हि मनः, “यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती” त्यादिश्रुतेः। अवशिष्टावसरे तत्कथाश्रवणादिकं च तथेत्यपि समुच्चितमत एव “तत्कथाश्रवणादौ वे”त्यपि भाषितम्। “सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्” इति अस्मदाचार्यचरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम्। ननु “यमेवैष वृणुते तेन लभ्य” इतिश्रुतेस्तद्वरणेनैवोक्तभावेन तच्चरणस्मरणादिसम्भवे

अयमुपदेशप्रयास: प्रयास एवेति कस्यचिद्बहिर्मुखमौखर्यं परिहरन्त: स्वमतिं प्रमाणयन्ति इति मे मतिरिति। मे मत्सम्बन्धिनी मदीया, मति: बुद्धिरिति एवंरूपा उक्तप्रकारे व्यवसायात्मिकेत्यर्थ:। अत्रायमभिसन्धि:। यद्यपि पूर्वोक्तमुक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपाधिष्ठातृत्वात्तदभिज्ञतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव। तथा चोक्तप्रकारेण तत्करणे अनुग्रहं करिष्यत्येव परमदयालु: श्रीमन्नन्दराजकुमार: श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीरदसुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उलूखलबन्धनप्रस्तावे प्रसङ्गतो नारदोक्तमपि निजोक्तमेवेति तदवस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वप्रयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव तत्र गत्वा मलकूबरमणिग्रीवयोस्तरुरूपयोरन्तरगत्योलूखलतत्सङ्घट्टनेन तौ भूमौ पातयंस्ततो निसृतलब्धस्मृतदिव्यशरीरयोस्तयोस्तां दृक्स्तवननमनप्रदक्षिणादीनङ्गी कुर्वन्नुद्धृतवानत एव ''तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने''ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्ति:। एवञ्च स्वमुखारविन्दोक्तमखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यात् इति मद्विश्वासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन भगवदीयैर्निश्चिन्ततया स्थेयम् इति भाव:। यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकपृष्ठ्या स्वमते: स्वातन्त्यमसूचि। अत एवासमासोक्तिरपि। अन्यथा मन्मतिरित्येव वदेयु:। तेनायमाशय:। भारते भीष्मयुद्धे पार्थरथार्थं श्रीमद्यदुकुलजलधिसुधाकर: स्वप्रतिज्ञातामप्यम्नायरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्प्रार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरत: सत्वरमुत्तरंश्चपलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं प्रवृत्तस्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत्। यत्र मर्यादायामपि तद्भक्तकृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया प्रकटीभूतसाक्षात्स्वस्यैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुत: स्वयस्यैव तस्य तत्साधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यति इति भाव:। स्वानभिलषितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्मदुक्तम् इति करिष्यत्येव। एतेन स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानप्रौढत्वमपि ध्वनितम्। अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रभुचरणानां तादृग्व्याहार इति अलं शङ्कान्वेषणाविलासै:। एतेन तदीयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ पुष्टिमार्गीयचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इति उक्तं भवति। अत एव ''मोक्ष: कृष्णस्य चेद्ध्रुवम्'' इतित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिज्ञैरेव भाषित इति सङ्क्षेप:।।४।।

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्वोचितं रचितमेतदस्याभि:।
क्षन्तुं तमपि प्रभवो मन्तुं मे वल्लभप्रभव:।।१।।
मया नामानुसारेण महानेवानय: कृत:।
यत्तत्कृतचतु:श्लोकीव्याख्याने विधृता मति:।।२।।
कृपालवस्त एवैतदाग:क्षन्तुं ममेदृश:।
प्रभवो विट्ठलाधीशा मदीयोयमिति स्वत:।।३।।
रमणी रुचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी।
करसम्बन्धमात्रेण विद्वदानन्ददायिनी।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणशरणैकधनिना श्रीविट्ठलपदकमलपरागपरिमललुब्ध
मधुना निर्मिता
चतु:श्लोकीव्याख्या वृत्ता

श्रीकृष्णाय नम:।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नम:।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम:।

चतु:श्लोकी

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता।

श्रीमद्वल्लभपादाब्जयुगलं विगलन्मधु।
नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम्।।१।।
श्रीविट्ठलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुसुपूरितम्।
कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरितवाङ्मना:।।२।।
तत्कृतायाश्चतु:श्लोक्या व्याख्यं सर्वार्थबोधिकाम्।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणा:स्वीयानां सकल निरतिशय साधनसाध्यफल प्राप्त्यर्थं शुद्ध पुष्टिमार्गीयातिरिक्त साधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं सकलवेदवेदान्त प्रतिपाद्यशुद्धपुष्टिमार्गीय भक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तसुबोधिन्यणुभाष्यादिरहस्यं सङ्क्षेपश्चतु:श्लोक्या आहु:–सर्वदेति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन।।१।।

सर्वदेति न कालनियमोत्र। सर्वकाले निरन्तरम्। नो चेद्भजनाभावे ह्यासुरावेश: स्यात् इति अर्थ:। **सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीय:**। यादृशो भावो भगवता सम्पाद्यते, कोपि भाव:। भावो मनोवृत्ति:। यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभाव:। तथाभावेन भजनीय:। अथवा सख्यभावेन। यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेहभावेन। तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे राजसेवकवद्भयोपि[1] रक्षणीयोपराधाभावार्थम्। नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भगवद्भजने रक्षणीयः। यथा पतिव्रतायाः पतिभजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणं, तथा भगवद्भजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणमेवेति। यद्वा, सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वप्रकारेणात्मन: स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति। यद्वा, सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु आत्मनो

---

[1] भयमपि रक्षणीयमिति युक्तं, ‘‘त्रासो, भितीभी: साध्वसं भयम्’’ इतित्यमरे तस्य नपुंसकलिङ्गदर्शनात्।

भगवतो भावनाभावः। तेन तदुक्तं ‘‘सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम’’ इतिवाक्यात्। भजनीयः सेवनीयः। सेवा कर्त्तव्या। सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधैर्यपूर्वकं कायवाङ्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्वेगप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्त्तव्यम्। यद्वा, ‘‘श्रवणं कीर्तनम्’’ इतिवाक्याच्छ्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः प्रेमरूपा कार्या। सेव्यस्वरूपमाहुः-व्रजाधिप इति। व्रजस्य निस्साधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म ‘‘रसो वै स’’ इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः। सर्वात्मभावेन विरहाकुलितहृदयेन ‘‘यच्च दुःखं यशोदाया’’ इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवात्सल्यादिभावाविष्टेन सेव्यः। ननु ‘‘धर्मेण पापमपनुदति’’ ‘‘धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्’’ इतित्यादिश्रुतिभि‘‘र्न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु’’रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्कथं भजनमेवोपदिश्यत इति अपेक्षायाम् आहुः-स्वस्यायमेवेति। स्वस्य जीवस्यात्मनोयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः। हि इति निश्चये। जीवात्मनो भगवदंशत्वादंशिनः सेवा युक्तैव। तस्मादस्यैव मुख्यधर्मत्वम्। अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः। तस्मादन्येषां गौणत्वम्। अत एव ‘‘त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे’’रित्यस्य व्याख्याने ‘अस्वधर्मम्’ इति पदच्छेदं कृत्वा भगवच्चरणारविन्दभजनमभिहितम्। तदेव स्वधर्म इति द्योतितम्। अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजनेनैव भविष्यति इति दैहिकधर्माणां गौणत्वं द्योतितम्। अत एव भगवद्वाक्यं ‘‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि’’, ‘‘सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसे’’ति। ‘‘यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः। व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि’’ इतितरसाधनाप्राप्यत्वं स्वस्योक्तम्। धर्मादिप्राप्यं तु भक्तेरानुषङ्गिकफलत्वमुक्तम्। नान्य इति। क्वापि कुत्रापि कदाचिदप्यन्यो धर्मो नास्ति। अन्यच्च, यं भगवान्स्वीयत्वेनानुगृह्णाति ‘‘यमेवैष वृणुत’’ इतिश्रुते‘‘र्भक्त्या त्वनन्यये’’त्यादिवाक्यैश्च भजनमेव स्वधर्मः। किञ्च; ‘त्रैवर्गिके’तिवाक्येन यस्मिन् महाननुग्रहस्तस्मिंल्लौकिकांशत्याजनार्थं त्रिवर्गविघातं स्वयमेव भगवान्करोति। मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो ‘दीयमानम्’ इतिवाक्यात्। तथा च भक्तिमार्गे कः पुरुषार्थ इति अपेक्षायां ‘‘हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि। कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम्’’ इति श्रीमदस्मत्प्रभुचरणै‘‘रहं हरे तव पादैकमूलदासानुदास’’ इति अस्य व्याख्यायां निरूपितम् इति जीवमात्रस्य भगवद्भजनमेव स्वधर्मः।।१।।

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेत्तर्हि सर्वे भगवद्भजनमेव किम् इति न कुर्वन्ति इति अपेक्षायाम् आहुः-एवम् इति।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

एवम् अनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिभ**जनवत्सदा निरन्तरं** दैवजीवैः सद्भिर्यत्कर्त्तव्यं तदस्माभिरुक्तम्। दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्त्तव्यो यो भगवद्भजनरूपो धर्मः सोस्माभिरुक्तः। स्म इति प्रसिद्धिः। दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुरजीवानाम्। आसुरावेशिनां तु व्यभिचारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः। दैवजीवानां तु गृहाश्रमिणां श्रौतस्मार्त्तादिकर्मानुष्ठाने वेदरूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे भगवदङ्गत्वेन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वान्नानन्यत्वभङ्ग इति। तथा च ''अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'' इतिवाक्याद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत एवेति यद्धर्मादिभिरैहिकामुष्मिकफलादिकं तदनायासेन **भगवान्स्वयमेव करिष्यति** सम्पादयिष्यति। कुत इति अपेक्षायाम् आहुः-**प्रभुरिति**। सर्वेषां ब्रह्मेन्द्ररुद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी नियामकः सर्वसामर्थ्यविशिष्टः। सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्त्तव्यं तत्स्वयमेव कर्त्तुं **समर्थः**। हि इति प्रसिद्धिः, क्षीरोदमथने मन्दरानयने। **तेन** सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्याग्रहं परित्यज्य चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो **निश्चिन्ततां व्रजेत्।** तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि कापि चिन्ता न कार्या। चिन्ताया आसुरधर्मत्वात्। सर्वं **भगवानेव** करिष्यति इति भावः।।२।।

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवानप्येतन्मनोरथं न कुर्यात्तदा किं भविष्यति इति अपेक्षायाम् आहुः- यदि इति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यशरणस्यानन्यगतिकस्य ''तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्'' इति एवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निस्साधनस्याधी**शोधिपतिः** स्वामी रक्षकः फलात्मा पालकश्च, **सर्वात्मना** कायवाङ्मनसा सर्वात्मभावेन वा हृदये धृतो धारितः। येषां भगवन्तं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि प्रियं नास्त्येव सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव यैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोपि भगवदर्थमेव प्रिया नात्मार्थम्। यदि इतिपदादेतादृश्यवस्था दुर्लभेति सूचितम्। भगवद्वरणातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः। **गोकुलाधीश** इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्तवश्यत्वेन भगवता स्थीयते तथैतस्यापि वशे भूत्वा भगवान् वर्त्तत इति द्योतितम्। अत एव ''एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता। स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे'', ''नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिहेति।

नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाल्लौकिकवैदिककार्यादे: कथं निर्वाह इति अपेक्षयाम् आहु:-तत इति। यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्व्यवहारादिकर्मभिर्वैदिकैराश्रमवर्णादिविहितै: कर्मभिर्यागदानादिभिश्चैतस्य किं फलमन्यत्? न किञ्चिदपि इति अर्थ:। सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फल‘‘स्याब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्त्तिनोर्जुने’’तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चित् इति अर्थ:। ततस्तस्मादपरं किं फलम् इति त्वमेव ब्रूह्यतो येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति ‘‘तेषामहं समुद्धर्त्ते’’तिवाक्यात्। ‘‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि’’ इति वाक्याच्च।।३।।

ननु तर्हि जीवै: सदा किं कर्त्तव्यम् इति अपेक्षायाम् **आहु:-अत** इति।

अत: सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयो:।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मति:।।४।।

यत: कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्भक्तेरानुषङ्गिक**मत: सर्वात्मना** सर्वप्रकारेण **शश्वन्निरन्तरं गोकुलेश्वरस्य** निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मकस्य भगवत: **पादयो**श्चरणारविन्दयो: **स्मरणं भजनं** चकाराच्छ्रवणं कीर्त्तनं कदापि न त्याज्यम्। स्नेहाभावेपि मनोधर्मत्वात्स्मरणस्य मुखतया स्मरणमेवोक्तम्। अत एव ‘‘तस्माद्भारत सर्वात्मे’’त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं नवधा भक्तिर्नोक्तेति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम्। पादसेवनादारभ्यात्मनिवेदन पर्यन्तानां षण्णां प्रेमोत्तरभावित्वान्मुख्यतया श्रवणकीर्त्तनस्मरणमेवाभिहितम्। तस्मादहर्निशं स्मरणं कर्त्तव्यं लीलाविशिष्टस्य। रासादिलीला अपि सर्वाश्चिन्तनीया भावाविष्टतया। तथैव भजनं सेवनं कर्त्तव्यं, कदापि **न त्याज्यम्।** ‘‘कृष्णसेवा सदा कार्ये’’तिवाक्ये मानस्या एव फलरूपत्वमुक्तम्। अत एव सेवालक्षणं चेतसो भगवत्प्रवणत्वम्। भगवत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थं तनुवित्तजाकरणम्। तेन सेवाकरणेन संसारदु:खनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मज्ञानावाप्तिरवान्तरफलम्। परमफलं तु यथाधिकारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति **मे** मम **मतिरिति**।

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वार्थबोधिका।
मया कृता चतु:श्लोक्या: कृष्णरायाभिधेन हि।।१।।
तुष्यतां तेन भगवांञ्छ्रीमदाचार्यवल्लभ:।
दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधि:।।२।।

इति श्रीमद्वल्लभदेवविरचितायाश्चतु:श्लोक्या: कृष्णरायभट्टविरचिता सर्वार्थबोधिका व्याख्या सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

चतुःश्लोकी

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवलिता

श्रीवल्लभाभिधान्नौमि तान् स्वशास्त्रार्थतो मुदा।
उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्योः यैः समासतः।।१।।

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयजनानां सुग्रहार्थं समासतः स्वात्मधर्ममनुशिक्षयन्तश्चतुःश्लोक्या सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।१।।

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः। स च केषाञ्चिन्मते निराकारः, केषाञ्चिन्मते साकार उपास्यः। तत्र निराकारस्तु नोपपद्यत एव। तथा हि किमाकारो देह आत्मा वेति विचारणीयम्। तत्र देहस्तु पाञ्चभौतिकः प्राकृतः स नोपपद्यत एव, ‘देहेन्द्रियासुहीनानाम्’ इतिवाक्यात्तदीयानां पार्षदानां यत्र तथात्वं तत्र तन्मूलस्वामिनः परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायः। अत एव आत्मैव परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः। न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तत्राकारः स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिविभागाभावात्। ‘‘स यथा सैन्धवघन आभ्यन्तरो बाह्यः कृत्स्नो रसघन, एवं वाऽरेऽयमात्मे’’ त्यादिश्रुतिभिरप्राकृतत्वाच्च। दिव्यपदेन दिवि भवो दिव्य इतिव्युत्पत्त्याग्रहश्चेत्तदा देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतत्वापत्तिः, देवेष्वप्रपञ्चीकृततत्त्वस्यैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात्। यत्तु ‘‘जन्म कर्म च मे दिव्यम्’’ इति उक्तं तदप्यप्राकृतत्वाभिप्रायेण, दिव्यपदस्य रूढार्थकत्वस्वीकारात्। अत एव ‘‘देहेन्द्रियासुहीनानाम्’’ इति अत्र तन्निषेधः। न च तत्र सामान्योक्त्या निषेध एव देहादेरापद्यत इति वाच्यम्, पुनस्तत्कथनात्, ‘‘वैकुण्ठपुरवासिनां पश्यतां कुर्वतां गानम्’’ इत्यनुपदम् एव तथाकारत्वेन निरूपणात्, तेन प्राकृताकारस्य निषेधस्तत्र पर्यवस्यति, न त्वप्राकृताकारस्य। प्राकृतभौतिकादिकाकारत्वं न तथा भगवति इतिबोध्यम्। अत एवोक्तं ‘‘साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारग’’ इति

स्वाचार्यनाम सर्वोत्तमे। तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवाची। साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्वं निरूपितं, तद्यथा ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्करचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम्। साकारत्वकथनेन पुष्टिमार्गीयफलस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वं, फलानुभवप्रकार उक्त:। नन्वियदवधि सर्वशास्त्रार्थविचारकैरपि परब्रह्मण: साकारत्वनिरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपकत्वम् इति चेत्, उच्यते। ब्रह्मणोऽत्यलौकिकत्वाच्चक्षुरादीनां लौकिकप्रमाणत्वान्न चक्षुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वेच्छया सम्भवति इति श्रुतीनामलौकिकमानत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणम् इति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म। तास्तु “स ईक्षाञ्चक्रे” “तस्मादेकाकी न रमते” “स द्वितीयमैच्छत्” “स हैतावानासे”ति साकारमेव निरूपयन्ति। गीता च “सर्वत: पाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम्” इतित्यादि साकारत्वमेव वदति। ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने “अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्” इतित्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वम् इति चेत्, उच्यते। निराकारत्वप्रतिपादका अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारवत् प्राकृताकारत्वमेव प्रतिषेधन्ति, नत्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम्। यदि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभं मतं स्यात्तदा निराकारत्वमुक्त्वापि अग्रे “स ईक्षाञ्चक्रे” इत्यादिना साकारं न प्रतिपादयेषु:। अत एव व्याससूत्रमपि “प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय” इति। अस्याप्यर्थ:। प्रकृतमेवावत्त्वं प्राकृतं साकारत्वं, तन्निषेधति निराकारश्रुति:, न त्वानन्दैकाकारत्वं, तत्र हेतु: “ततो ब्रवीति च भूय” इति। अस्याप्यर्थ: ततोग्रे। पुनरपि “स इक्षाञ्चक्रे” “अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण” इत्यादि साकारत्वमेव वदति इति निराकारवादिनां यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेपि सर्वशाखीयोपनिषेज्ज्ञानाभावात्तासु च प्रकारभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वक विषयव्यवस्थया यत्सिध्यति तादृग् ब्रह्म मन्तव्यम्। निराकारवादिनां सर्वशाखीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनम् इति न तदुक्तं प्रमाणम्। स्वाचार्यैस्तु सर्वशाखोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकारस्यैव निरूपणात् सर्वमवगत्यैव साकारत्वमुक्तम् इति सिद्धं साकारत्वम्।

स च साकार: परमेश्वर: को वा भजनीय:, शिवो विष्णुर्वा व्यूहात्मा वा नारायणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिर्वेत्याकाङ्क्षायाम् आहु: व्रजाधिप इति अनेन सर्वतो व्यावृत्त्यावतारदशापन्नेष्वपि भगवदंशेषु स्वरूपेषु भजनीय: श्रीकृष्ण: पुरुषोत्तमो व्रजाधिप एवोक्त:। “क्वचित्पाण्डित्यम्” इतिश्लोके निर्णीतत्वात्। सोपि नोपास्य: किन्तु भजनीयो, ‘भज’ सेवायाम् इति धातो:। उपासनाया: कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविध्यधीनत्वं भजनीयस्यायाति इति विभूतिरूपं व्यावर्त्यते। भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदशक्यार्थ:। “धात्वर्थ: सेवा, प्रत्ययार्थ: स्नेह”

इति निबन्धोक्तेः। “**सा परानुरक्तिरीश्वरे**” इतिभक्तिसूत्रात्। “माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे”ति नारदपञ्चरात्रोक्तेश्च। ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इति अन्यत्र विस्तरः। सा सेवा तनुवित्तजा कायिक्येव केवला सम्भूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते। “प्रत्ययार्थः स्नेह” इत्यान्तरो धर्म उक्तः। तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां “चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा” इति। तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः संसेव्य इति अभिप्रायतः **सर्वभावेनेत्युक्तम्।** सर्वो यो भावो देहेन्द्रियादीनां यथार्हं तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः। सर्वात्मभावेनेति केचित्। सोप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव। सर्वोपि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य मर्यादामार्गीयत्वात् इति विवेचनीयम्। किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकदेववद्वा।

ननु वेदादिप्रमाणग्रन्थेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतदित्यप्यविहितमेव भजनम् इति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमतो व्यस्थापितत्वात्। “अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्” इतिभगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्वाच्च। “मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे” इत्यादिना। अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तव्यत्तव्यानीयर्प्रत्ययानां[१] मध्ये अनीयर्प्रत्यय उपात्तः। तथा विध्यर्थकञ्च। न चैवं विध्यधीनत्वप्रसङ्गः। मर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च। अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्धर्मनिरूपणप्रसङ्गे “यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे”त्यादि अयमेव धर्मः॥१॥

इति मठेशश्रीनाथभट्टकृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका[२] समाप्ता।

---

[१] तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) इतिसूत्रात्। [२] नाथिका लब्धा।

श्रीकृष्णाय नम:।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नम:।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम:।

चतु:श्लोकी

श्रीद्वारिकेशविरचितव्याख्यायुता।

श्रीगोवर्धनधराय नम:।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्विट्ठलेशांश्च सद्गुरून्।
स्वसिद्धान्तचतु:श्लोकीं विवृणोमि यथामति।।१।।

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणा: कृष्णाश्रयग्रन्थे सपरिकरस्याश्रयस्य निरूपितत्वादाश्रितान् स्वमार्गीयप्रमाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्बोधकधर्मार्थकाममोक्षांश्चोपदेष्टुं पूर्वश्लोके धर्मं प्रमाणं **च निरूपयन्ति सर्वदेति।**

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन।।१।।

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले। सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन। तदुक्तं ‘‘प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे’’ति, ‘‘सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता ईश्वर’’ इति ‘‘येषां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरु: सुहृदो दैवतञ्च’’। व्रजाधिप:। व्रजस्य नि:साधनस्यानन्यस्वामिन: अधिप: स्वामी। कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति। कायवाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीय:। यद्वा सर्वेषामिन्द्रियाणां भावेन ‘‘तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका:’’ इतिरीतिकेन, निरोधलक्षणे वक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्य:। स्वस्येति ‘‘देवोऽसुरो मनुष्यो वे’’तिवाक्यात्, ‘‘को नु राजन्नि’’तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य। स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्यायमेव धर्म। तदेव भक्तिहंसे ‘‘स्त्रिया: स्वपतिभजनवत्’’ इति। अकर्तव्यं निषेधयन्ति।।।।।

ण काले श्रौतकर्तव्यस्य। ‘‘वर्णाश्रमवतां धर्म: श्रुत्यादिषु यथोदित:। तथैव विधिवत्कार्य:’’ बालबोधे ‘‘स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा’’। अत एव सर्वोत्तमेऽपि ‘कर्ममार्गप्रवर्तक:’ ‘‘यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशक:’’, ‘‘यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ते’’त्यादिनामानि। तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते। न चैवं ‘सर्वदा’पदबाध: शङ्क्य:, भक्तिमार्गे साधनफलयोरैक्येन तेषामपि सेवा मध्यपातिनीति न बाध:।।१।।

एवं ‘‘सर्वदा सर्वभावेन भजनीय’’ इति अनेन प्रमाणं निरूप्य ‘‘धर्मो हि’’ इति अनेन धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सताम् इति।

एवं सतां स्म कर्तव्य स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्।।२।।

उक्तप्रकारेण भजताम्। **स्मेति** प्रसिद्धिः। भगवद्गीतासु ‘‘अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्’’ इतिभगवद्वाक्यात्। एकादशस्कन्धे च ‘‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे’’तिभगवद्वाक्यात्। कर्तव्यं सेवोपयुक्तापदार्थसम्पादनं स्वयमेव करिष्यति। **स्वकर्तव्यम् इतिपाठे** स्वस्य जीवस्य भगवतो वा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्धरिः स्वयमेव अविकृत एव अप्रार्थित एव करिष्यति, न त्वन्यद्वारा। नापि कल्पवृक्षादिवत्। स हि प्रार्थित एव करोति। अत एव दशमस्कन्धे ‘‘व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः’’। सर्वोत्तमेऽपि ‘‘स्वदासार्थकृताशेषसाधन’’ इति। मार्यादिकभक्तेषु नृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतमपि श्रूयते। ननु भगवान् केन प्रकारेण करोति इति आशङ्कायामाह **प्रभुरिति**। प्रकर्षेण भवति इति। भगवदीयाभिलषितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति। यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्गृहयोर्ऋष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश। तदुक्तं ‘‘उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षित’’ इति। यथा च षोडशसहस्रनायिकाविवाहे श्रीवसुदेवादिवीरयात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा सर्वत्र विवाहं कृतवान्। तदुक्तं ‘‘अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः। अथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरे अव्यय’’ इति। ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते इत्यत आहुः **सर्वसमर्थ** इति। सर्वं कर्तुं समर्थः। अथवा। सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्यो अर्थो यस्य। ‘‘सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति’’श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात्। तथा चोक्तमष्टमस्कन्धे ‘‘उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः। नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः’’। हि युक्तो अयमर्थः। एतेन सिद्धम् आहुः तेनेति। भगवतैव सम्पादितेनार्थेन **निश्चिन्ततां** भगवदेकतानतां **व्रजेत्।** निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात्। अत एव भक्तिवर्द्धिन्यां ‘‘अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः’’। नवरत्नप्रकाशेऽपि ‘‘भगवदर्थापि सा न कार्या’’। विवेकधैर्याश्रयेऽपि ‘‘प्राप्तं सेवेत निर्ममः’’। गदाधरदासीनां तथाकृतिश्च श्रूयते। एवं **प्रभु**पदेनार्थं **सर्वसमर्थपदेन** प्रमेयं च निरूप्य ‘‘भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भक’’ इति उपक्रम्य, ‘‘यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति **चाशिष**’’इत्युक्तत्वात्।।२।।

एवं तु भगवतार्थसम्पादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवा अनिर्वाह इति प्राप्तेः, भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दिदृक्षारूपं कामं निरूपयन्ति **यदि श्रीगोकुलाधीश** इति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि।
तत: किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि।।३।।

एतेन दुर्लभतोच्यते। अत एव दिदृक्षा। श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता। “काम: स्त्रीषु प्रतिष्ठित” इतिवाक्यात्। “कौण्डिन्यो गोपिका: प्रोक्ता गुरव: साधनं च तदि”तिवाक्यात् साधनसम्पत्तिर्निरूपिता। तयो: स्वस्मिन्समावेशम् आहु: **धृत: सर्वात्मना हृदि।** “एकादशेन्द्रियै: काम” इतिवाक्यात्। अत्रा आत्मपदं इन्द्रियपरम्। सर्वपदं एकादशपरम्। सर्वेन्द्रियै: कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च “हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत” इतिवचनाप्तत्वेन **लौकिकै**रुद्यमनादिभि: **वैदिकै**र्यज्ञादिभिरपि किं? नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतादृशमत्युत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि।।३।।

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति **अत** इति।

अत: सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयो:।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मति:।।४।।

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यसाधनं नास्ति, अत: परं **सर्वात्मना देहेन्द्रियप्राणान्त:करणै: शश्वन्निरन्तरं,** गवां कुलस्य, गवां बन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य **पादयोर्भगवदी**यदेहसम्पादकयो: **स्मरण**माध्यानं भजनं सेवनं, **च**कारेण श्रवणं कीर्तनं च, **न त्याज्यम्।** सादरं सर्वथा विधेयम्। अपि: **सम्भावनायाम्**। त्यागसम्भावनैव नास्ति। एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति। स्वयं स्वाभिप्रामाण्येन ग्रन्थं समापयन्ति–**इति मे मतिरिति। मे** श्रीकृष्णवल्लभस्य इति एवं प्रकारिका मति:।।४।।

एवं भगवदीयानां धर्मार्थेच्छामृतप्रदा।
व्याख्यातेयं चतु:श्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका।।१।।
तेन श्रीवल्लभाचार्या: स्वदासे मयि वंशजे।
प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्वया: सहसेवका:।।२।।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीमथुरानाथात्मजद्वारिकेशविरचिता
चतु:श्लोकीव्याख्यान्वयबोधिनी
समाप्ता।